साहित्यिक रेडियो वार्ताएं



डॉ. विमल शंकर नागर

साहित्यिक रेडियो वार्ताएं

साहित्यिक रेडियो वार्ताएँ

: वार्ताकार :

श्री शिव चन्द्र नागर
डॉ० सरोज मार्कण्डेय
डॉ० विमल शंकर नागर

-: सम्पादक :-

डॉ० विमल शंकर नागर
एम० ए० पी - एच० डी०

प्रेरणा प्रकाशन
३, बड़े डाकघर के पीछे, खालसा
मुरादाबाद-२४४००१

प्रथम संस्करण : १९८९ मूल्य ७५-००

प्रेरणा प्रकाशन, ३, बड़े डाकघर के पीछे खालसा, मुरादाबाद-२४४००१ द्वारा प्रकाशित । मुद्रक : संयम प्रिन्टर्स, कचहरी रोड़, मुरादाबाद ।

विषयानुक्रमणिका

आमुख

बीसवीं शताब्दी में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में विविध अनुसंधानों के कारण विश्व मानवता की विकास-यात्रा में रेडियो एवं दूरदर्शन आदि संसाधनों का प्रादुर्भाव हुआ। इनसे सामान्य सूचना समाचार आदि के सम्प्रेषण के साथ-साथ साहित्य सदृश गूढ़ कलात्मक विषयों के प्रचार-प्रसार में भी पर्याप्त सहायता प्राप्त हुयी ।

इस ग्रंथ में माननीय राष्ट्रपति भारत सरकार की ओर से आकाशवाणी के विविध केन्द्रों के निदेशकों के अनुरोध पर लिखित रेडियों वार्ताओं के आलेखों को प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया गया है। नागपुर विद्यापीठ नागपुर के भूतपूव अधिष्ठाता, कलासंकाय, श्रीयुत शिवचन्द्र जी नागर एम० ए० एल० एल० बी० ने आकाशवाणी नागपुर एवम् सुश्री डा० सरोज मार्कण्डेय, प्राचार्या, सौभाग्यवती रानी महिला महाविद्यालय, धामपुर ने आकाशवाणी नजीबाबाद से प्रसारित अपनी वार्ताओं को इस ग्रंथ में प्रकाशन हेतु प्रदान किया इनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना मेरा कर्तव्य है । इनके अतिरिक्त आकाशवाणी रामपुर से प्रसारित मेरी वार्ताएँ इस पुस्तक में संकलित एवं सम्पादित हैं ।

मेरा प्रयास है कि भविष्य में अधिक से अधिक विद्वानों की रेडियो वार्ताओं को साहित्य के प्रांगण में आरक्षित करुँ तथा उनके आधार पर रेडियो वार्ताओं के सैद्धांतिक, व्यवहारिक एवं ऐतिहासिक पक्षों का अनुसंधान करुँ। वस्तुतः रेडियो वार्ता वार्ताकार के व्यक्तित्व का प्रतिफल है। अब तक की अनेक साहित्यिक रेडियो वार्ताओं के श्रावण चिंतन एवम् मनन के आधार पर कहा जा सकता है कि रेडियो वार्ता न निबन्ध है, न कहानी, न उपन्यास, न रेखाचित्र, न पत्र लेखन और न साहित्य का अन्य कोई रूप वस्तुतः साहित्यिक रेडियो वार्ता स्वतन्त्र साहित्यिक विधा है जिसका अपना सुनिश्चित व्यक्तित्व है। वार्ताकार को सुनिश्चित एवम् सुनिर्धारित विषय पर एक सीमित कालावधि में एक आलेख लिखकर आकाशवाणी केन्द्र पर रिकार्डिंग कराने जाना होता है। यह वार्ताकार की क्षमता, निपुणता, दक्षता एव सतत अभ्यास पर निर्भर करता है कि वार्ता कितनी प्रभावशाली हृदय-स्पर्शी अथवा आकर्षक

बन पड़ी है । अन्य श्रव्य बिद्याओं की भांति रेडियो वार्ता भी श्रव्य विद्या है जिसक सफलता के वाचन पर बहुत कुछ अबलम्बित है। इससे यह स्पष्ट है रेडियो वार्ता एवम् विशेष कर साहित्यिक रेडियो वार्ता द्विमुखी साहित्यिक विद्या है जिसकी सफलता उसके लेखन के साथ-साथ वाचन पर भी निर्भर है।

कभी-कभी वार्ताकार अपनी वार्ता का पाठ इतनी तीव्रता से करता है कि श्रोता उससे बहुत पीछे रह जाता है और उसके सम्प्रेषण का लक्ष्य पूर्ण नहीं हो पाया। इसलिए यह नितांत आवश्यक है कि वार्ताकार का आलेख अत्यन्त सरल, सहज, स्वाभाविक, सरस तथा हृदय-स्पर्शी होना चाहिए और उसका वाचन भी प्रभावोत्पादक उतार-चढ़ाव के साथ ऐसी गति से होना चाहिए कि उसका मन्तव्य श्रोता के मन और मस्तिष्क को स्पर्श कर ले। यह उपलब्धि चरम साधना की ही परिणति है और सिद्ध वार्ताकार ही इस प्रकार की वार्ता सम्प्रेषित कर पाते हैं।

रेडियो से अनेक साहित्यिक वार्ताएँ प्रसारित होती रहती है उनमे से अनेक ऐतिहासिक महत्व की भी होती है परन्तु कितनी वार्ताएँ साहित्य के प्रांगण में प्रवेश कर पाती है यदि मेरे प्रयास से कुछ वार्ताएँ भारतीय साहित्य का अंग बन सके तो मैं अपने प्रयास को सफल समझुंगा।

विमल शंकर नागर

हिन्दी एवं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

आज 14 सितम्बर हिन्दी दिवस के अवसर पर हम हिन्दी के पितामह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को स्मरण करते हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य के निर्माण एवं प्रोत्साहन के लिए अपना सर्वस्व लगा दिया। हरिश्चन्द्र जी आधुनिक हिन्दी गद्य के जन्मदाता, प्रथम सशक्त सफल पत्रकार और नाटककार, तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक समालोचना के जनक तथा हिन्दी गीति काव्य के प्राय: अन्तिम कवि हैं जिन्होंने अपने समय में हिन्दी भाषा और काव्य दोनों पर समान अधिकार रखते हुए उसे नई दिशा प्रदान करने का अभूतपूर्व प्रयास किया।

हरिश्चन्द्र जी को भारतेन्दु की उपाधि भारतीय जनता ने प्रदान की थी और वह उनके नाम का अभिन्न अंग बन गयी। हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में भारतेन्दु जी ने सम्वत १९४२ वि० में 'कविवचन सुधा,' पत्रिका का संस्थापन एवं सम्पादन कार्य किया जिसका उद्देश्य प्रथम पृष्ठ पर लिखित विवरण से स्पष्ट है कि यह पत्रिका साहित्यिक. वैज्ञानिक, राजनीतिक, धार्मिक नाटक, इतिहास, उपन्यास, काव्य हास्य एवं व्यंग्य की पत्रिका थी और इसकी फाइलें इस युग का दर्पण हैं। भारतेन्दु जी द्वारा संस्थापित एवं सम्पादित 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' तथा 'चन्द्रिका' पत्रिकाओं में भी गद्य, पद्य, काव्य, पुरावृन्त नाटक, कला, इतिहास, परिहास, समालोचना आदि विषयों पर लेख प्रकाशित होते थे। भारतेन्दु जी ने 'बालाबोधिनी' मासिक पत्रिका का प्रकाशन एवं सम्पादन भी प्रारम्भ किया जो महिलाओं को शिक्षा प्रदान करने के लिए प्रचारित एवं प्रसारित की गयी थी। अपने समय के 'आर्यमित्र', 'हिन्दी प्रदीप', 'भारत मित्र', 'मित्र विलास पत्रों' को भी भारतेन्दु जी ने प्रोत्साहित कर प्रकाशित कराया।

हिन्दी में नाट्य साहित्य के अभाव को पूर्ण करने की दृष्टि से भारतेन्दु जी ने अट्ठारह छोटे-बड़े नाटक लिखे जिनमें 'सत्य हरिश्चन्द्र' उनकी सर्वोत्कृष्ठ मौलिक रचना है। 'भारत दुर्दशा' नाटक आज भी पठनीय है जिसमें भारत की राष्ट्रीय भावात्मक एकता की आवश्यकता एव भारत के प्राचीन गौरव को ओजस्वी भाषा में वर्णित कर अपने समय की दुरावस्था पर दुःख व्यक्त किया

गया है। 'नील देवी' सन् १८८१ मे लिखित ऐतिहासिक रंगमंचीय रचना है। 'अंधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा' तथा 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' सरल भाषा में लिखे गये इनके प्रहसन है जो अपने उद्देश्यों को पूर्ण करने में सफल रहे है। संस्कृत एवं अंग्रेजी के नाटकों को भी अनुवादित कर भारतेन्दु जी ने हिन्दी भाषा के भंडार में अभिवृद्धि की है। भारतेन्दु जी ने 'नाटक' शीर्षक पुस्तक की सर्जना की जिसमें तत्कालीन नाटक के उद्‌भव एव विकास की समालोचना की गयी है।

गीतिकाव्य की परम्परा के प्रायः अन्तिम कवि भारतेन्दु जी ने लगभग पन्द्रह सौ पदों की रचना की जिनमें विनय, श्रीकृष्ण जी की लीला, कृष्ण और गोपियों के परस्पर सम्बन्ध आदि को वर्णित किया गया है। इनमें शृंगार एवं वात्सल्य रस को प्रमुख रूप से तथा शान्त, करुण एवं वीर आदि रसों को गौण रूप से प्रवाहित किया गया है। श्री राधाकृष्ण की युगल मूर्ति का ध्यान करते हुए भारतेन्दु जी लिखते हैं—

रे मन करू नित-नित यह ध्यान।
सुन्दर रूप गौर श्यामल छबि जो नहिं होत बखान।।

बालकृष्ण के आँगन में खेलने से सम्बन्धित एक पद की दो पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

आजु लख्यो आँगन मे खेलत यशुदा जी को बारो री।
पीत झंगुलिया तनक चौतनी मन हरि लेत दुलारो री।।

भक्त कवि भारतेन्दु राधा जी के अवतरण का कारण प्रेमपथ का उद्‌भव होना स्वीकारते हुए लिखते हैं—

जो पै श्री राधा रूप न धरती।
प्रेमपंथ जग प्रकट न होते ब्रज बनिता कहा करती।।
पुष्टि मार्ग थापित को करतो ब्रज रहतो सब सूनो।
हरि लीला कर के संग करते मंडल हो तो ऊनो।।
रास मध्य को रमतो हरि संग रसिक सुकवि कह गाते।
'हरिचन्द्र' भव के भय सो भजि किहि के शरणहि जाते।।

वियोगावस्था में भारतेन्दु को गोपियां उद्धव के अकाट्य तर्कों को पराजित करती हुई कहती हैं—

पिय सों प्रीति लगि नहिं छूटै।
ऊधौ चाहो सो समझाओ अब तो नेह न टूटै।
सुन्दर रूप छांडि गीता को ज्ञान लेई को कूटै।
'हरीचन्द्र' ऐसो को भूरख सुधा त्यागि विष घूटै॥

इसी प्रकार ज्ञान की दुहाई देने वाले उद्धव को उत्तर देते हुए गोपियां कहती हैं—

ऊधौ जो अनेक मन होते।
तौ इक श्याम सुन्दर को देवे इक लै जोग सँजोते॥

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर गोपियां बहुत ही सरल एवं सरस शब्दों में कहती हैं—

ऊधो जू सूधौ गहो वह मारग ज्ञान की तेरे जहाँ गुदरी है।
कोऊ नहीं सिख मानि है ह्यां इक श्याम की प्रीति प्रतीति खरी है॥
ये बृजबाला सबै इक सी 'हरिचन्द जू' मण्डली ही बिगरी है।
एक जो होय तो ज्ञान सिखाइये, कूप ही में यहाँ भांग परी है॥

वियोगावस्था में विरहिणी कितनी सादगी से अपनी दशा का वर्णन करती हुई अपनी सखी से कहती है—

मनमोहन तें बिछुरी जब सौं, तन आँसुन सो सदा धोवती हैं।
'हरिचन्द जू' प्रेम के फंद परी कुल की कुल लाजहि खोवती हैं॥
दुःख के दिन को कोउ भांति बितै, बिरहागम रैन सँजोवती हैं।
हमहीं अपुनी दशा जानै सखी निसि सोवती है किधौं रोवती है॥

भारतेन्दु जी ने ब्रजभाषा के साथ-साथ हिन्दी खड़ी बोली तथा उर्दू में भी काव्य रचना की है और उसके माध्यम से सब धर्मों को एक परमात्मा को पाने का माध्यम बताया है। एक स्थान पर वे बहुत ही सरल शब्दों में कहते है—

तेरा दम भरते हैं हिन्दू अगर नाकुस बजता है।
तुझे ही शेख ने प्यारे अजाँ देकर पुकारा है॥

जो बुत पत्थर है तो काबः में क्या जुज खाक पत्थर है।
बहुत भूला है वह इस फर्क में सर जिसने मारा है ॥
न होते जलवः गर तुम तो, वह गिरजा कब का गिर जाता।
निसारा को भी तो आखिर तुम्हारा ही सहारा है ॥
तुम्हारा नूर है हर शै में कह से कोह तक प्यारे।
इसी से कह के हर–हर तुमको हिन्दू ने पुकारा है।

भारतेन्दु जी ने कुछ धार्मिक ग्रन्थों का भी प्रणयन, एवं सम्पादन किया। 'भक्त सर्वस्य', 'तदीय सर्वस्च', 'भक्ति सूत्र', 'वैजयन्ती', 'सर्वोत्तम स्तोत्र भाषा', 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल', 'वैष्णवता और भारत' तथा वैशाख महात्मा आठ छोटी बड़ी पुस्तकों का भारतेन्दु जी ने प्रणयन किया तथा घनानन्द कृत 'सुजान-शतक' एवम् अन्य कतिपय पुस्तकों का सम्पादन किया। 'प्रहसन पंचक' 'हरिहासिनी' गद्य पद्यमय रामलीला इनके स्फुट ग्रन्थ एवं लेखों के अन्तर्गत समाविष्ट किये जा सकते हैं।

हिन्दी साहित्य एवं भाषा के निर्माण एवं उत्थान में भारतेन्दु जी ने मात्र पैंतीस वर्ष जीवित रह कर जो अमर योगदान किया है वह अजर और अमिट है। उसका उस काल के सम्पूर्ण साहित्य पर प्रभाव है तथा हिन्दी साहित्य एवं सम्पूर्ण हिन्दी भाषी प्रदेश उनका सदैव ऋणी रहेगा।

०—०—०

'आधुनिक हिन्दी साहित्य में विविध विधाओं के सर्जक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र'

आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता तथा वर्तमान युग के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्बन्ध में ग्रियर्सन ने कहा था—"वर्तमान काल के भारतीय कवियों में यह सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। देशीय साहित्य के प्रचार में इन्होंने जो प्रयास किया है उससे बढ़कर किसी भी जीवित भारतीय ने नही किया है।" भारतेन्दु बहुमुखी प्रतिभाशाली साहित्यकार थे जिन्होंने जीवनपर्यन्त साहित्य की विविध विधाओं से सेवन कार्य कर चालीस ग्रन्थों का प्रणयन किया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी साहित्य के प्रचार-प्रसार एवं व्यापक प्रयोग की दृष्टि से लगभग ग्यारह मौलिक नाटकों का सृजन किया जिनमें से अनेक का मंचन भी किया जा चुका है। इनके नाटकों में उल्लेखनीय नाटक हैं—'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति', 'विषस्य विषौषधम', 'भारत दुर्दशा', 'भारत-जननी' एवं 'अंधेर नगरी में' सभी नाटक उद्देश्यपरक हैं और तत्कालीन भारत की दुर्दशा करने वालों का यथार्थ स्वरूप उपस्थित कर जनता में चेतना उत्पन्न करना एवं राष्ट्रीय भावना का संचार करना इनके नाटकों का प्रमुख उद्देश्य रहा है। 'भारत-दुर्दशा' नाटक में अंग्रेजी सरकार पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं—

अग्रेज राज सुख-साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै मति ख्वारी।।
ता पै महंगी काल-रोग निस्तारी।
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।।

नाटकों की भाषा सरल परिमार्जित एवं पात्रानुकूल है।

'भारत-जननी' नाटक में भी लेखक ने तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों का चित्रण किया है। इस नाटक के उद्देश्य के बारे में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखते हैं। 'भारत-भूमि' और 'भारत-संतान' की दुर्दशा दिखाना ही इस भारत जननी की इति कर्तव्यता है और एक मनुष्य भी यदि इस भारत-भूमि के

सुधारने में एक दिन भी यत्न करे तो हमारा परिश्रम सफल है। इसी नाटक में अन्य स्थल पर भारतेन्दु लिखते हैं, भ्रात गण ! अब उठो और जननी के दुखानल के निवारण का यत्न करो, अभिमान, लोभ, अपमान, आत्मसम्मान प्रशंसा एवं परजात निन्दा इन सबका सावधानी पूर्वक परित्याग करो और धैर्य का आलम्बन करो' मौलिक नाटकों के अतिरिक्त भारतेन्दु जी ने संस्कृत भाषा से 'रत्नावली', 'पाखण्ड', 'विडम्बन', 'धनंजय विजय', 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूर-मंजरी' एवं दुर्लभ वन्धु नाटकों का अनुवाद कर हिन्दी साहित्य के भण्डार की अभिवृद्धि की। इन नाटकों के अनुवाद में भारतेन्दु जी के परिश्रम एवं प्रतिभा का परिचय इस तथ्य से मिलता है कि उन्होंने संस्कृत के छन्दों का भी हिन्दी के छन्दों में अनुवाद किया।

नाट्य-साहित्य के अतिरिक्त भारतेन्दु जी ने साहित्य के गद्य एवं पद्य दोनों विधाओं में अपनी मेधा को अभिव्यक्त किया है। गद्य साहित्य के अन्तर्गत इनके निबन्ध, उपन्यास, गद्य-गीत एवं पत्र-पत्रिकाओं में लिखे प्रभावशाली लेख मिलते हैं। निबन्धों के सन्दर्भ में सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यह है कि भारतेन्दु से पूर्व निबन्ध लेखन की कला का कोई रूप नहीं था एवं हिन्दी निबन्धों का रूप सबसे पहले इनके द्वारा प्रकाशित सम्पादित पत्रों में इनके ही द्वारा लिखे गये सम्पादकीय लेखों में मिलता है। तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिये लिखे गये भारतेन्दु जी के निबन्ध उन्हें उस युग के सजग प्रहरी की संज्ञा प्रदान करते हैं। निबन्धों के युग के आरम्भ-कर्ता एवं उन्नायक के रूप में भारतेन्दु जी ने सामाजिक-सांस्कृतिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, यात्रा सम्बन्धी आत्म कथात्मक, धार्मिक-गवेषणात्मक, राजनीतिक, प्राकृति सम्बन्धी एवं व्यंग्यात्मक तथा हास्य आदि अनेक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। भारतेन्दु जी ने विचार एवं भाषा-शैली दोनों ही दृष्टियों से निबन्ध साहित्य का प्रारम्भ एवं परिष्कार किया। अपने सांस्कृतिक निबन्धों में विद्वान लेखक ने हमारे देशवासियों के समक्ष प्राचीन स्वस्थ सांस्कृतिक गौरव को प्रस्तुत किया। विदेशी सभ्यता एवं संस्कृति के कुप्रभावों से जनता को सजग किया तथा प्राचीन रूढ़ियों एवं कुरीतियों से जनता को सचेत किया। राष्ट्रीय भावना को जागृत किया तथा देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, यथार्थ अवस्था का सही

चित्र उपस्थित कर जनता को देशोन्नति के मार्ग पर अग्रसर किया। साथ ही लेखक ने विभिन्न जातियों एवं धर्मों में परस्पर एकता स्थापित करने का प्रयास किया। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारतेन्दु ने अपने निबन्धों से राष्ट्रीय चेतना का प्रचार-प्रसार किया।

भारतेन्दु जी ने कुछ गद्य गीतों एवं उपन्यासों का भी सृजन किया परन्तु पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन एवं लेखन के क्षेत्र में इन्होंने विशेष ख्याति प्राप्त की। जीवन की अल्प आयु में ही वे समझ गये थे कि जनता से सम्पर्क स्थापित करने एवं उसे बनाये रखने के लिए जनता की समस्याओं को जनता के समक्ष प्रस्तुत करने एवं उसका ध्यान आकर्षित करने के लिए पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन नितान्त अपरिवार्य है। भारतेन्दु जी ने जनता को नई चेतना का संदेश देने, उसमें साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्कार उत्पन्न करने तथा नये लेखकों को प्रोत्साहन देने के लिए 'कवि-वचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', 'बालबोधिनी' पत्रिकाओं का सम्पादन एवं प्रकाशन किया। इस संदर्भ में सर्वाधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि भारतेन्दु जी ने अपनी पत्रिकाओं के माध्यम से तत्कालीन साहित्यिक वातावरण को नेतृत्व प्रदान किया। साहित्य का सम्वर्द्धन एवं भाषा का परिष्कार किया। जनता में नई चेतना का प्रचार-प्रसार किया जिसके कारण हिन्दी पत्रकारिता साहित्य में उनका स्थान अमर है।

नाटक एवं गद्य साहित्य की विविधताओं के साथ काव्य के क्षेत्र में भारतेन्दु जी ने नए कीर्तिमान स्थापित किए। काव्य के क्षेत्र में भारतेन्दु जी ने प्रकृति चित्रण, गीतिकाव्य, भक्तिकाव्य, प्रेमकाव्य, विरह काव्य, राष्ट्रीय काव्य, हास्य एवं व्यंग्य काव्यादि की सर्जना की। भारतेन्दु के काव्य को प्रकृति-चित्रण की सर्वाधिक मौलिक एवं सबसे महान विशेषता है प्रकृति से उपमाएं देकर तत्कालीन मानव जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करना है। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

भारत में मची है होरी
× × × × ×
धूर उडत सोई अबीर उडावत सबको नैन मरोरी,
दीन दशा अंसुअन पिचकारिन सब लिलार भिजयोरी॥

भारतेन्दु ने कबीर, तुलसी, सूर, मीरा आदि कवियों की गीति-काव्य की परम्परा को नवीन गति प्रदान की। भारतेन्दु के गीत काव्यों में नवीनता एवं मौलिकता भाव एवं विषय-विन्यास दोनों ही में है। उन्होंने गीतों से जन जागरण का कार्य किया एवं भारत दुर्दशा, मदिरा पान, शोषण, गरीबी, धार्मिक विकृतियों सांस्कृतिक अधोगति देश तथा समाज के उत्थान आदि विषयों पर गीत लिखे।

भारतवर्ष की उन्नति के लिये गीतों के अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार पर बल देते हुये भारतेन्दु लिखते हैं--

"जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बने ओर वे सारे देश, गाँव-गांव में साधारण लोगों में प्रचार की जायें।"

भारतेन्दु ने इसी दृष्टि को समक्ष रखकर ग्राम रागनियों में बाल-विवाह से हानि, जन्मपत्री मिलायें की अशास्त्रता, शिक्षा अंग्रेजी फैशन, शराब, फूट और वैर, जन्मभूमि से प्रेम आदि अनेक विषयों पर प्रेरित करने वाले गीतों का सृजन किया। भारतेन्दु के भक्ति काव्य में 'पुष्टिमार्गीय' प्रेमा भक्ति, प्रेम रूपा भक्ति, सख्य भाव, प्रहग रूप की भक्ति का विनय भाव की भक्ति और तुलसी की भक्ति जैसी कायरता, समन्वय भावना तथा सहिष्णुता के साथ-साथ कबीर की सबलता एवं स्पष्टवादी अक्खड़ता के दर्शन होते हैं। भक्ति काव्य परमारा में भारतेन्दु की देश प्रेम से प्रेरित भक्ति सर्वाधिक मौलिक देन है, भगवान से भारतवासियों के उद्धार की प्रार्थना करते हुये भारतेन्दु लिखते हैं कि--

'जगत विना जग-जीवन जागो मंगल मुख दरसाओ।
तुम सोये सब ही मनु सोये विन कहूँ जागी जगाओ॥
अब विनु जागे काज सरत नहिं आलस इरि वहाओ।
हे भारत भुतनाथ भूमि निज बूड़त आनि बचाओ॥

भारतेन्दु के प्रेम सम्बन्धी पदों में सूर की सी सरसता मधुरता एवं विधापति तथा रीतिकालीन कवियों जैसी शृंगारिकता का समन्वय मिलता है। अपनी राष्ट्रीय कविताओं से भारतेन्दु ने काव्य के विषय का विस्तार किया एवं उनके प्रभाव से अनेक अन्य कवियों ने राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर साहित्य की सर्जना की। भारतेन्दु राष्ट्रीय जागरण के कार्य को राष्ट्र भाषा एवं उसके

साहित्य के प्रचार - प्रसार के माध्यम से करना चाहते थे और इसीलिए वे राष्ट्र भाषा की उन्नति के प्रति पूर्ण सजग थे। इसलिए स्वयं भारतेन्दु लिखते हैं—

'निज भाषा उन्नति अहे, सब उन्नति को मूल।
विन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हृय को सूल' ।।

भारतेन्दु ने तत्कालीन सामाजिक जीवन की बुराइयों पर प्रहार करते हुए हास्य एव व्यंगपूर्ण काव्य की सर्जना की। तत्कालीन परिस्थितियों में यह उनका अप्रतिम योगदान था क्योंकि उनसे पूर्व हास्य व्यंग का प्रयोग काव्य में न इतना प्रचलित था और न ही इस प्रकार का था। इन्होंने भक्ति की संकीर्णता, धार्मिक रूढियों, कुरीतियों अन्ध विश्वासों से उत्पन्न सामाजिक विकृतियों, विदेशी सम्पर्क से भारतीय संस्कृति में उत्पन्न विकारों, अंग्रेजों द्वारा किये जा रहे शोषण, भारतवासियों की निष्क्रियता, आलस, पराधीनता अन्य विकारों आदि पर व्यग्य पूर्ण रचनाएं लिखी। मदिरा पान पर व्यग्यं करते हुए भारतेन्दु जी लिखते हैं—

'या असार संसार में चारि वस्तु हैं सार।
जुआ, मदिरा, माँस अरु नारी संग विहार ।।

X X X X X

ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, अरु सैयद सेख पठान।
दै बताय मोहि जो, करत न मदिरा पान ।।

भाषा एवं शैली की दृष्टि से भी भारतेन्दु जी ने नये-नये प्रयोग किये। इनसे पूर्व कविता में व्रजभाषा का प्रयोग किया जाता था। इन्होने ब्रजभाषा के साथ खड़ी बोली और बोल चाल की पूर्वी बोली में अनेक गीत लिखे।

भारतेन्दु के काव्य में अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग, चित्रोपमता, संगीतात्मकता, जनोन्मुखी कला-प्रयोग, सरसता, मधुरिमा, शब्द शैली, ध्वन्यात्मकता आदि के सुन्दर दर्शन होते हैं।

अन्त में कहा जा सकता है कि भारतेन्दु जी ने अपने साहित्य में प्राचीनता एवं नवीनता का सुन्दर सामंजस्य कर आधुनिक हिन्दी को जन्म दिया। इन्होंने

आधुनिक हिन्दी गद्य को सुव्यवस्थित रूप प्रदान कर उसमें नाटक, इतिहास, पुरातत्व, धर्म, आठपक्ष, निबन्ध आदि के साथ साथ पद्य साहित्य की धारा को नवीन युग के अनुकूल प्रवाहित किया। भारत की चिंता में व्यग्र तथा हिन्दी के प्रेम के मतवाले भारतेन्दु जी ने अपना तन, मन, धन सब कुछ इन्हीं–पर न्योछावर कर दिया। हिन्दी सहित्य में इनका स्थान बहुत ऊँचा और अमर है।

—०—

अगर कभी फुरसत मिले

ज्ञान विज्ञान की विविध शाखाओं के सम्पर्क में होने के कारण अगर कभी फुरसत मिले तो अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहूंगा। समय की सीमा को दृष्टि मे रखते यहाँ पर मात्र दो ग्रन्थों का उल्लेख कर रहा हूँ। अति बौद्धिकता, तार्किकता, वैज्ञानिकता से पीडित एवम् ग्रस्त बीसवी शताब्दी के मानव मन के उद्वेलनों आघातों-प्रतिघातों संवेगों एवम् संघर्षों को प्रतिबिम्बित एवं विश्लेषित करने वाली प्रथम कृति है 'कामायनी' तथा भारतीय ग्रामीण जन की आशाओं, आकांक्षाओं, अनुभूतियों, आस्थाओं, विश्वासों, गतिविधियों, सीमाओं समस्याओं एवम् उनके समाधानों तथा प्रगति के नूतन आयामों को प्रतिबिम्बित करने वाली कृति है— 'मैला आँचल'।

सम्पूर्ण विश्व की मानवता के कल्याण के पुजारी प्रसाद ने 'कामायनी' महाकाव्यात्मक कृति के कथा सूत्रों के माध्यम से मानव मन की चिन्ता अवस्था से आनंद प्राप्त करने की सम्पूर्ण यात्रा का वर्णन किया है। मनु, श्रद्धा एवम् इड़ा तीन भावात्मक पात्रों के माध्यम से विद्वान काव्यकार ने मानव जीवन में बौद्धिकता एवं तार्किकता, विश्वसनीयता एवं परस्पर आस्था की आवश्यकता, सीमा और शक्तियों को प्रतिपादित किया है। मानव के लिये बौद्धिकता एवम् विश्वसनीयता दोनो की परम आवश्यकता है और दोनों ही जीवन को संचालित करने वाली प्रमुख सद्‌वृत्तियाँ है। अति बौद्धिकता से आक्रांत मानव को आनंद का पथ प्रशस्त करने वाली श्रद्धा कामायनी काव्य में मनु को समरसता, समन्वय और सन्तुलन का संदेश देती है। समसामायिक युग के अतिबौद्धिकता, अतियान्त्रिकता एवं अतिभौतिकता से संयुक्त एवं वैज्ञानिक संसाधनों से परिचालित, नियन्त्रणविहीन, चिंतनहीन एवं सत्तालोलुप राष्ट्राध्यक्ष कामायनी के मनु से यह शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं कि जीवन में वास्तविक सुख शान्ति एवं समृद्धि की प्राप्ति तथा संघर्ष एवं युद्ध से मुक्ति आत्मनियन्त्रण, प्रेम-प्रसार, सहजविश्वास, समन्वय, समरसता एवं सामंजस्य से सम्भव है। 'कामायनी' की सर्वमंगला

कल्याणमयी और सर्व जनहिताय अपना सर्वस्व त्याग कर देने वाली श्रद्धा के आत्म प्रसार के महानतम आदर्श से प्रभावित मनु सारश्वत प्रदेश के लोगों से कहते हैं :—

मनु ने कुछ मुस्काकर,
कैलाश और दिखलाया,
बोले देखो की यहाँ पर
कोई भी नहीं पराया।

कामायनी आनन्दवादी कलाकार प्रसाद के व्यक्तित्व की सर्वोत्कृष्ट भेंट है, जिसके भाव सौंदर्य के प्रचार-प्रसार से मानव जाति का कल्याण सम्भव है। सामान्य मानव भी कामायनीकार के संदेश के मार्ग को समझकर अपनी समस्याओं का समाधान कर सकता है। कामायनी में जीवन की समस्याओं के समाधान हेतु सूत्र प्रतिपादित करते हुये प्रसाद लिखते हैं कि प्रत्येक समस्या का समाधान ज्ञान, इच्छा और क्रिया के समन्वय से सम्भव है। इनके समन्वयात्मक त्रिकोण से प्रत्येक कष्ट का निवारण सम्भव है। प्रसाद के शब्दों में :—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सको,
यही विडम्बना है जीवन की।

प्रसाद जीवन की विडम्बना की विसंगति एवं प्रत्येक कठिनाई के निवारण के लिए सतत ज्ञान, अनुसंधान, जानकारी प्राप्त कर तदनुकूल आचरण करने पर बल देते हैं। कामायनी का यह संदेश वस्तुतः पूर्ण व्यवहारिक है और आज के वैज्ञानिक युग में मानव की आवश्यकता को पूर्ण करने वाला है।

कामायनी के बार-बार अध्ययन की आवश्यकता भौर उपादेयता उसके दार्शनिक प्रदेय के साथ-साथ उसमें वर्णित भाव सौंदर्य, रुपविधान; काव्य-बिलास भाषा-शैली, प्रकृति-चित्रण आदि उन सभी तत्वों पर आधारित है जो उसके द्वारा प्रदत्त आनन्द को सुलभ कराते हैं। श्रद्धा के सौंदर्य का वर्णन करते हुए प्रसाद लिखते हैं :—

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघवन, बीच गुलाबी रंग ।

इसी प्रकार आशा सर्ग में धरा के मानवीकरण के माध्यम से किया गया वर्णन रसिकों को आनंद प्रदान करता है। प्रसाद जी के शब्दों में—

'सिन्धु-सेज पर धरा वधु,
अब तनिक संकुचित बैठी सी,
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में,
मान किये सी ऐंठी-सी ।

आज की वार्ता की द्वितीय प्रमुख पुस्तक है-'मैला आँचल' जिसमें फणीश्वर नाथ रेणु' ने बिहार प्रान्त के पूर्णिया जनपद के मेरीगंज ग्राम के जन जीवन के माध्यम से सम्पूर्ण भारतीय ग्रामीण समाज के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिवेश को प्रस्तुत किया है। 'मैला आँचल' एक आँचलिक उपन्यास है जिसने आगे चलकर हिन्दी उपन्यास जगत में एक साहित्यिक विधा को ही जन्म नहीं दिया वरन् उपन्यासकारों के समक्ष उपन्यास लेखन के नये आयामों को संधान किया। रेणु ने इस उपन्यास के सम्बन्ध में लिखा है— 'यह है मैला आँचल। एक आँचलिक उपन्यास'। मेरी दृष्टि में इस उपन्यास में भारतीय ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था के विविध अवयवों-वर्णव्यवस्था, जाति व्यवस्था, नारी की सामाजिक स्थिति, अस्पृश्यता एवं ग्राम पंचायत आदि की परम्परागत स्थिति में प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली के आगमन के कारण अवतरित परिवर्तनों, नवविकसित संघर्षों एवं उनके मध्य पुनर्विकसित एवम् पुनर्निमित सामाजिक व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करने का प्रयास किया गया है। समाज के पुन निर्माण में सर्वाधिक संघर्षशील पात्र है डॉ० प्रशान्त जो निस्वार्थ भाव से ग्रामीण मानवता की सेवा करने के लिए मेरीगंज ग्राम में आता है, अवांछित तत्वों द्वारा जेल भिजवा देने के उपरान्त भी वह पुनः वहीं आकर मानवता के सुख के लिए साधना प्रारम्भ करता है और ममता से कहता है -'ममता में फिर काम शुरु

करुँगा। यहीं इसी गांव में। मैं प्यार की खेती करना चाहता हूं। आंसू से भीगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहायेंगे। मैं साधना करुँगा ग्राम्यवासिनी भारत माता के 'मैले-आंचल' तले कम से कम एक ही गाँव के कुछ प्राणियों के मुरझाये ओठों पर मुस्कराहट लौटा सकूं उनके हृदय में आशा और विश्वास को प्रतिष्ठित कर सकूँ।

'मैला आँचल' को वार्ता में सम्मिलित करने का द्वितीय प्रमुख कारण यह है कि रेणु ने भारतीय ग्रामीण समाज के पुर्ननिर्माण की प्रक्रिया को वाणी प्रदान करने हेतु उसी आँचल की लोक भाषा का सर्वाधिक प्रयोग किया और इससे प्रभावित होकर अन्य आंचलिक उपन्यासकारों ने लोक भाषा और उसके नियामक तत्वों का उपयोग किया है। हिन्दी के साहित्यिक जगत में ग्रामीण जनता की भाषा के प्रयोग का यह प्रथम अवसर था वस्तुत: किसी समाज की व्यवस्था के पुर्ननिर्माण का कार्य उसी व्यवस्था के स्थानीय साधनों से सुचारु रूप से हो सकता है और हिन्दी के आँचलिक उपन्यासकारों ने 'मैला आंचल' के प्रयोग से प्रभावित होकर भारतीय ग्रामीण जनता के मनोंभावों के साथ-साथ उन्हें अभिव्यक्त करने वाले लोक तत्वों को भी अंगीकार कर साहित्यिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है।

मेरी दृष्टि में 'मैला आँचल' की सबसे प्रमुख समस्या मानव में आस्था उत्पन्न करना एवं मानवता के कल्याण का आदर्श जनता के समक्ष प्रस्तुत करना है। स्वातन्त्र्योतर काल में प्रजातान्त्रिक मूल्यों के आधार पर जन-जन में आत्म-विश्वास उत्पन्न करने एवम् राजनीतिक तथा सामाजिक धरातल पर उसे प्रतिष्ठित करने के प्रयास किये गये और साहित्य के क्षेत्र में 'मैला आँचल' सदृश आंचलिक उपन्यासों ने जन जन की प्रतिष्ठा को पुर्नस्थापित करने का प्रयास किया। 'मैला आंचल' उपन्यास में लेखक ने इस समस्या का निदान प्रस्तुत करते हुए लिखा है–'विधाता की सृष्टि में मानव ही सबसे बढ़कर शक्तिशाली है। उसको पराजित करना असम्भव है, प्रचण्ड शक्तिशाली बमों से भी नहीं।······ पागलो आदमी-आदमी है, गिनीपिग नहीं।' इसी प्रकार इस उपन्यास का एक अन्य पात्र कालीचरण आदमी से बढ़कर बलवान किसी देवता को भी नहीं समझता, फिर डाइन, भूत, ओझा मुंशी किस खेत की मूली हैं। 'मैला आँचल' का डॉ॰ प्रशान्त तो प्रारम्भ से अन्त तक मानव सेवा और कल्याण की भावना से प्रोत्साहित, प्रेरित एवं समर्पित है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त राष्ट्र के कर्णधार नेताओं के समक्ष सबसे प्रमुख समस्या सम्पूर्ण राष्ट्र को भावात्मक एकता के सूत्र में सुदृढ करने एवम् राष्ट्रोत्थान करने की थी। 'मैला आँचल' सदृश अन्य आँचलिक उपन्यासों ने अपने अपने अचंलों में निवसित व्यक्तियों के मनोभावों को व्यक्त कर, राष्ट्रीय स्तर पर, भावात्मक एकता का सूत्रपात किया और ये उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में भावात्मक एकता के सर्वाधिक सशक्त उपादान सिद्ध हुए। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों के राष्ट्रीय प्रदेय को स्वीकार करते हुए लिखते हैं- 'आँचलिक उपन्यास राष्ट्रीय भावना के उपन्यास हैं। उनके द्वारा विशाल देश के अनेक भूखण्डों की चेतना का बोध होता है और समग्र रूप से एक व्यापक राष्ट्रीय भावना खड़ी होती है। खंड खंड से मिल कर ही अखण्डता बनती है। खंड का ज्ञान करने के बाद ही समस्त खन्डों में अखण्डता की परिकल्पना की जा सकेगी।'

हमारे राष्ट्र के आर्थिक विकास में आंचलिक उपन्यासकारों के योगदान को स्वीकार करते हुए डॉ० मुकुंद द्विवेदी लिखते है—'आंचलिक उपन्यासकारों ने समग्र देश की चेतना के सम्मुख ग्रामीण चेतना को रखकर उसके पिछड़ेपन के कारणों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है साथ ही इस ग्रामीण चेतना के विकास के मार्ग में बाधक तत्वों को भी गिनवाया है। जब तक इन तत्वों को समाप्त नहीं किया जाता तब तक गावों की उन्नति और विकास असम्भव है।

वस्तुतः 'मैला आंचल' एक ऐसी ऐतिहासिक एवम् युगान्तरकारी औपन्यासिक कृति है जिसने हिन्दी उपन्यासों के मध्य नवीन मार्ग प्रशस्त किया, स्वातन्त्र्योत्तर कालीन भारतीय ग्रामीण जन के विकास के सद् प्रयासों को वाणी प्रदान की और शिल्प एवम् कथा के चयन हेतु दूसरे आंचलिक उपन्यासकारों को आमन्त्रित एवं प्रेरित किया। इसी से प्रेरित होकर हिन्दी साहित्य में भारतीय समाज के पुनर्निर्माण की गाथा प्रस्तुत करने वाले उपन्यास 'परती परिकथा' 'जल टूटता हुआ' 'रीछ' 'पानी के प्राचीर' 'अलग-अलग वैतरणी' 'कब तक पुकारूँ' आदि का सृजन हुआ।

—०—

वर्तमान युग में शरद साहित्य का महत्व

वर्तमान युग नाना प्रकार से परिभाषित किया जाता है । साम्यवाद, पूंजीवाद, व्यक्तिवाद, तथा गांधीवाद नाना प्रकार के ऐसे वाद हैं जिनसे रंजित कर वर्तमान युग तथा उसके लक्ष्य परिभाषित किये जाते हैं । भारत की बिगत सरकार समाजवादी सिद्धान्तों के आधार पर भारतीय समाज का पुनर्निर्माण करना चाहती थी और वर्तमान सरकार सब वर्गों में शान्तिपूर्ण समन्वय तथा परस्पर सहयोग की कामना करती है । साम्यवाद एवं पूंजीवाद के आधार पर सम्पूर्ण विश्व दो वर्गों में विभक्त है । मेरी दृष्टि मे ये सब व्यवस्थायें हैं-साधन, साध्य कुछ और है और वह है मानव । सभी बादों तथा व्यबस्थाओं का लक्ष्य है-मानव का कल्याण करना । उस मानव का जो युगों से पीडित उपेक्षित, तृष्डित है और जिसे साम्राज्यवादी व्यवस्था अपने पोषण हेतु यंत्रवत प्रयुक्त करती रही है ।

वर्तमान युग का लक्ष्य यदि मानव का कल्याण करना, उसमें आत्म-निर्भरता, स्वतन्त्रता, आत्म-सम्मान का भाव उत्पन्न करना तथा नर-नारी के मध्य परम्परागत विषमता को दूर करना है तो निश्चय ही शरद साहित्य का महत्व अजर और अमर है शरद साहित्य के स्वरुप, शरद की साहित्यिक मान्यताओं तथा शरद साहित्य के सम्बन्ध में इतर विद्वानों के अभिमतों से शरद साहित्य के वर्तमान युग में महत्व का सहज ही आभास मिल जाता है । नारी जाति के मसीहा शरद ने अपने गद्य साहित्य में हजारों वर्षों से उपेक्षित तथा परम्पराओं और मर्यादाओं से शोषित भारतीय नारी के मन की करुणा तथा पीडा को प्रमुखतः अपने साहित्य में अभिव्यक्ति प्रदान की । शरद द्वारा विरचित 'चरित्रहीन' 'शेष प्रश्न' 'बामन की बेटी' बड़ी दीदी आदि कथाकृतियों में भारतीय नारी जाति की परम्परागत समस्याओं का हृदयस्पर्शी चित्रण किया गया है । चरित्रहीन उपन्यास की विचारमयी पात्रा एक नव युवती पाठिका को पथ भ्रष्ट होने से रोकती है तो शेष प्रश्न ही पाठक को अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व से सदैव के लिये आर्कषित कर लेती है । भारतीय

नारी जाति की समस्याओं के साथ साथ शरत ने भारत के उपेक्षित तथा जर्जर पीड़ित मानव के कष्टों को साहित्य के आंगन में सुरक्षित किया। 'ग्रामीण समाज':विप्रदास' 'श्रीकान्त' (चारों पर्व) आदि उपन्यास तथा कहानियाँ इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। 'पथेरदावी तथा जागरण' उपन्यासों से लेखक ने तत्कालीन जनता में जागरण तथा आँगल प्रशासन के विरुद्ध जनमत बनाने का प्रयास किया। 'पथेरदावी' उपन्यास को भारतीय क्रान्तिकारियों के पास गीता की भांति पाया जाता था। यह उनकी प्रेरक रचना थी तथा इसीलिये तत्कालीन सरकार ने उसे जब्त कर लिया था। शरत ने तत्कालीन नवयुवकों की समस्याओं पर प्रकाश डालने तथा परतन्त्र भारत में उनके उत्तरदायित्व तथा कर्तव्यबोध को जागृत करने हेतु कतिपय निबन्ध लिखे जो 'तरुणों का विद्रोह' तथा 'संदेश और साहित्य' निबन्ध संग्रहों में संकलित हैं। शरत ने अपनी साहित्यिक तथा नारी सम्बन्धी मान्यताओं को व्यक्त करने हेतु भी निबन्ध लिखे, जो भारतीय एवं विश्व साहित्य की अमर सम्पदा हैं। शरत के सम्पूर्ण साहित्य के अध्ययन के उपरान्त कहा जा सकता है कि उन्होंने जनजीवन तथा ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं के अपने अध्ययन तथा अनुभव से बंगला भाषा के साहित्य को नूतन दिशा प्रदान की तथा भारतीय एवम् विश्व साहित्य में अविस्मरणीय स्थान प्राप्त किया।

शरत एवं उनके साहित्य के सम्बन्ध में नाना प्रकार की किवदंतियां प्रचलित थीं तथा उन पर चरित्रहीन होने और अश्लील एवं अनैतिक साहित्य सृजन का आरोप लगाया जाता रहा है। इस सन्दर्भ में शरत के उत्तर को ही यहां प्रस्तुत करना समीचीन होगा। 'चरित्रहीन' को अश्लील उपन्यास कहने पर शरत ने औस्टिन, मैरी करेली एवं मिरु राग्रेड उपन्यासकारों के उदाहरण देकर प्रकाशक द्विजेन्द्र लाल राय को लिखा था, अंग विशेष लोगों को खोलकर नहीं दिखाते, यह मैं जानता हूँ, किन्तु घायल स्थान में नहीं दिखाते, यह नहीं जानता। (१) साहित्य में अनीति के प्रचार के आरोप के उत्तर में उन्होंने कहा था 'मैंने अनीति के प्रचार करने के लिये कलम नहीं पकड़ी। मैंने तो मनुष्य के अन्तर में छिपी हुई मनुष्यता को उस महिमा को जिसे सब नही देख पाते। नाना रूपों में अंकित करके प्रस्तुत किया है।

शरत कला को मानव कल्याण का एक उपादान मानते थे और इसीलिए उन्होंने बंगीय साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए कहा था 'इस अभिशप्त और तमाम दुःखों के देश में अपने अभिमान को छोड़कर रूसी साहित्य की तरह जिस दिन वह और भी समाज के नीचे स्तर में उतर कर उनके दुख और वेदना के बीच खड़ा हो सकेगा, उस दिन यह साहित्य साधना केवल स्वदेश में नहीं विश्व साहित्य में भी अपना स्थान ले सकेगी। (३) इसी प्रकार इलाचन्द्र जोशी के विविध प्रश्नों का उत्तर देते हुये शरत बाबू ने कला के सम्बन्ध में कहा था, 'हमारे यहाँ कला में कल्याण और मंगल की भावना को प्रमुख स्थान दिया गया है। इसीलिये जिस कलात्मक मूल्य की पृष्ठ-भूमि में यह भावना न हो, उसके प्रति मेरे मन में कभी आदर का भाव नहीं रहा है। मैंने कला को कभी क्रीड़ा–कौतुक के रूप में नहीं देखा है। मैं उसे मनुष्य के जीवन की चरम साधना के रूप में मानता हूं।

इससे स्पष्ट है कि शरत साहित्य सर्जन का लक्ष्य मात्र मनोरंजन तथा हास्य व्यंग्य का निर्माण नहीं था वरन् उनका लक्ष्य था साहित्य में शिव की स्थापना करना तथा साहित्य के माध्यम से शिव को जन-जन के सम्पर्क में लाना।

शरत के साहित्य तथा उनकी साहित्यिक मान्यताओं के उपरान्त शरत के सम्बन्ध में तत्कालीन साहित्यकार क्या कहते थे यह भी विचारणीय है। शरत रविन्द्र युग के उज्जवल नक्षत्र थे और उन्होंने शरत बाबू की सष्टिपूर्ति के अवसर पर ठीक ही कहा था, शरत चन्द्र कथा साहित्य में एक ऐसी वस्तु लेकर आये जिसने बंगला देश के सर्व साधारग के अन्तर को स्पर्श किया। उसकी विगूढ़तम वेदना के स्तर पर आघात किया। इसीलिये तो बंगलादेश के सभी लोगों ने शरत चन्द्र के साहित्य को अपना कहकर वरण किया ……। दूसरे लेखकों ने बहुतों की प्रशंसा पाई है, किन्तु सार्वजनिक हृदय का ऐसा आतिथ्य नहीं पाया। यह अद्भुत वस्तु नहीं, यह प्यार है। अनायास ही जो प्रचुर सफलता इन्होंने पाई है इससे वे मेरे ईर्ष्याभाजन हो गए हैं। [५] श्री अरविन्द ने शरत साहित्य के सम्बन्ध में कहा था श्री शरत चन्द्र की रचनाओं में उनकी विशाल मेघा, मानवों

तथा वस्तुओं के सूक्ष्म तथा सही पर्यवेक्षण और दुःख तथा पीड़ा के प्रति सहानुभूति के भरे हृदय की अमिट छाप है। वे इतना अधिक संवेदनशील हैं कि उन्हें संसार से चैन कैसे प्राप्त हो सकता है। उनकी दृष्टि भी सम्भवतः उतनी ही अधिक पैनी है। उनका मन बहुत निर्मल है और उनकी प्राणिक प्रकृति बहुत उदात्त है। (६) शरत की ५१ वीं जन्म जयन्ती के अवसर पर उनको अभिनन्दन पत्र भेंट करते हुये उन्हें बंगाल की नारियों ने उन्हें नारी चरित्र के परम रहस्य ज्ञाता, सब नारियों के अन्तरयामी, परम आत्मीय, श्रद्धेय एवं प्रिय मित्र साहित्यकार के रूप में सम्मानित किया गया था। (७) शरत साहित्य की महत्ता इन मन्तव्यों के साथ-साथ इस तथ्य से भी स्पष्ट हो जाती है कि वह भारत तथा विश्व की उत्तर भाषाओं में अनुवादित एवं प्रशंसित हुआ तथा कुछ व्यक्तियों ने उन्हें रविन्द्र के समान सम्मानित करने की भी कामना की थी।

शरत की मृत्यु पर तत्कालीन तीन प्रमुख व्यक्तियों की प्रतिक्रिया से भी शरत के साहित्य की महत्ता एवं उपादेयता पर प्रकाश पड़ता है। कविगुरू रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने शरत की मृत्यु पर कहा था।

जाहर अमर स्थान प्रेमेर आस नै
क्षति तार क्षति नय मृत्यु शास नै।
देशेर माटिर थेंके निलो जारे हरि,
देशे हृदय ताकै राखियो छे वरिः

(जिनका अमर स्थान प्रेम के आसन पर है. मृत्यु उन्हें कोई उन्हें कोई हानि नहीं पहुंचा सकती, भौतिक दृष्टि से उन्हें देश से जुदा कर दिया गया है, लेकिन उसके हृदय में उनका स्थान सदा बना रहेगा।

इसी प्रकार आचार्य प्रफुल चन्द राय ने शरत की मृत्यु के उपरान्त अपनी डायरी में लिखा था। धन्य शरद चन्द : तुम इतने दिन कहां थे। कहाँ से आ गये। सचमुच तुम्हारे समान एक लेखक की बड़ी आवश्यकता थी। सामाजिक व्याधि और दुर्नीति का नियंत्रण करने के लिये तुमने जिस प्रकार कलम पकड़ी, उसकी तुलना कोई नहीं हो सकती। तुमने कभी भी धर्म मत के ऊपर ओछा व्यंग्य विद्रुप नहीं किया। इसीलिये कुप्रथाओं के ऊपर कुठाराघात

करने में कुण्ठित नहीं हुये। तुम्हारी रचनायें भी स्पर्श्य हैं। अन्तस्तल तक में प्रवेश कर जाने वाली। तुम्हारे चरित्रों के साथ एकाकार हुआ जा सकता है। सुभाषचन्द्र वोस ने शरद की महत्ता को स्वीकारते हुये कहा था 'एक साहित्यक की दृष्टि से वे महान थे लेकिन एक देशभक्त की दृष्टि से वे और भी महान थे उनकी मृत्यु से कांग्रेस की बहुत क्षति हुई है।

अन्ततः कहा जा सकता है कि वर्तमान प्रजातान्त्रिक युग में जब विश्व का प्रत्येक राष्ट्र कल्याणकारी राज्य बन रहा है ऐसे में शरद चन्द्र चट्टोपध्याय के साहित्य का महत्व अक्षुराण है जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन समाज के पीड़ित, तथा उपेक्षित वर्ग की पीड़ा, करुणा तथा तथा दुख दर्द को वाणी प्रदान करने में व्यतीत कर दिया हो। तथा जिसने भारत मां को शृंखला से उन्मुक्त कराने हेतु अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा समर्पित करदी हो। मेरी दृष्टि से जन-जन की आशाओं-आकाक्षांओ आवश्यकताओं एवं आशाओ को अभिव्यक्ति करने वाले शरद जैसे साहित्यकार काल के गर्भ में विलीन नहीं होते वरन मानवता की विकास यात्रा में उनकी यश पताका निरन्तर लहराती रहती है।

संदर्भ ग्रंथ (१) शरद पत्रावली-स० गजेन्द्र नाथ चट्टोपध्याय।
(२) आवारा मसीहा - लेखक विष्णुकुमार प्रभाकर पु० सं० १४।
(३)संदेश और साहित्य से संग्रहीत तथा आवारा मसीहा में पृष्ठ सं० २४३ में प्रस्तुत।
(४) आवारा मसीहा पृ० २२६
(५) आवारा मसीहा पृ. स. १६
(६) आवारा मसीहा पृ. स. २६७
(७) आवारा मसीहा पृ० स० १२, १३
(८) „ „ *अन्तिम पृष्ठ (कथा भाग)*

—०—

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में कथ्य

'हिन्दी के आँचलिक उपन्यासों में कथ्य' विषय पर वार्ता प्रारम्भ करते हुए विश्व सापित्य में आंचलिकता, हिन्दी साहित्य में आँचलिकता, हिन्दी उपन्यास साहित्य में आंचलिकता, हिंदी के आँचलिक उपन्यास आदि विविध बिन्दुओं पर ध्यान जाता है तथा विचार करने से ज्ञात होता है कि इस सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मत वैभिन्य हैं।

यहाँ पर वार्ता के समय की सुविधा तथा आवश्यकता की दृष्टि से हिन्दी के प्रमुख आँचलिक उपन्यासों के कथ्य के सम्बन्ध में बोल रहा हूँ। हिन्दी के आँचलिक उपन्यासों में सर्वप्रथम ख्याति लब्ध एवं सर्व स्वीकृत आंचलिक उपन्यास है – 'मैला आंचल' जिसके विद्वान लेखक फणीश्वर नाथ रेणु ने विहार प्रांत के पूर्णिया जनपद के मेरीगंज ग्राम के आधार पर भारतीय ग्रामीण मानवता के स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व एवं उपरान्त के सुख-दुख, हास परिहास, राग-विराग एवम् विकास के नूतन आयामों को परिलक्षित किया है। 'मैला आँचल' में विद्वान लेखक ने भारतीय मानवता के नव जागरण एवं आशा-निराशा के नूतन आयामों को प्रस्तुत किया है। 'मैला आंचल' का डॉ० प्रशान्त एम. बी. बी. एस. करने के उपरान्त भारत मां के आंचल तले सेवा करने के लिए, मेरीगंज ग्राम में जाता है सम्पूर्ण अवरोधों तथा बाधाओं के मध्य भारतीय ग्रामीण मानवता की सेवा में स्वयं को समर्पित करने का संकल्प लेता है।

हिन्दी की समस्त आंचलिक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाली द्वितीय महत्वपूर्ण कृति है — 'परती–परिकथा' जिसमें 'रेणु' ने परानपुर ग्राम के माध्यम से वहाँ के सम्पूर्ण स्थानीय आँचलिक, भौगोलिक, प्राकृतिक सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक शैक्षणिक धार्मिक, सांस्कृतिक परिवेश में लोक–भाषा के पुट के साथ प्रतिबिम्ब करने का सफल प्रयास किया है। इस कृति की कथा का वैशिष्टय यह है कि विद्वान लेखक ने भारतीय समाज एवं संस्कृति के परम्परा-

गत सार्वभौमिक मूल्यों के साथ-साथ परानपुर ग्राम के परिवेश के निमायक आन्चलिक तत्वों को प्रतिविम्बित किया है। परानपुर ग्राम में जितेन्द्र ट्रैक्टर लेकर परती बंजर भूमि को उर्वरक बनाने का प्रयास करता है, तथा बंजर धरती पर गुलाब की खेती करना चाहता है। 'जुलूस' 'कितने चौराहे' 'दीर्घतपा' रेणु के अन्य लघु उपन्यास हैं जिनमें बिहार का आंचलिक स्पर्श मिलता है।

रेणु के उपरान्त हिन्दी में अनेक आंचलिक उपन्यासों की रचना हुयी है। बिहार प्रान्त के आंचलिक उपन्यासकारों में नागार्जुन एवं सच्चिदानन्द 'धूमकेत' ऐसे उपन्यासकार हैं जिन्होंने अपनी-अपनी दृष्टि से वहां के जनजीवन को चित्रित करने का प्रयास किया है। नागार्जुन का 'बलचनमा' 'दुखमोचन' 'बाबा-बटेश्वर नाथ' 'रतिनाथ की चाची' 'इमरतिया' 'नई पौध' 'उग्रतारा' सभी उपन्यासों में लेखक ने बिहार प्रान्त के मिथिला जनपद को प्रस्तुत किया हैं। नागार्जुन के आंचलिक उपन्यासों में 'बलचनमा' ऐसा उपन्यास है जिसमें उन्होंने बलचनमा के जीवन के माध्यम से भारतीय ग्रामीण जीवन में साम्यवादी विचाराधारा से प्रेरित कार्यकर्ता के मरण का चित्र प्रस्तुत किया है। सम्भवतः अपने बलचनमा' के कथ्य के माध्यम से नागार्जुन भारत में साम्यवाद की सीमा दर्शाना चाहते हैं और इसीलिये 'दुखमोचन' उपन्यास के माध्यम से गाँधी के जीवन के प्रति श्रद्धान्जलि व्यक्त करते हैं। दुख मोचन कलकत्ता से अपनी नौकरी छोड़कर बिहार के टमका कोइली ग्राम में आकर ग्रामीण जनता की सेवा करने का संकल्प लेता है तथा उनके दुख दूर करने का प्रयास करता है। शेष उपन्यासों में लेखक ने भारतीय ग्रामीण अंचलों की सामाजिक समस्याओं का प्रगतिवादी दृष्टि से समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। सच्चिदानन्द 'धूमकेत' का आंचलिक उपन्यास 'माटी की महक' ऐसा आंचलिक उपन्यास है जिसमें बिहार की माटी की गन्ध, वहां के निवासियों की शक्तियों एवं सीमाओं तथा जन जीवन की कार्यपद्धतियों से परिचय किया जा सकता है।

उत्तर प्रदेश के आन्चलिक उपन्यासकारों में डा० रामदरस मिश्र, डॉ० विशम्भरनाथ उपाध्याय, डॉ० शिव प्रसाद सिंह, डॉ० रागेय राघव तथा डॉ०

राही मासूम रजा ने अपने उपन्यासों से विशेष ख्याति प्राप्त की। डॉ० रामदरश मिश्र ने 'जल टूटता हुआ' 'पानी के प्राचीर' तथा 'सूखता हुआ तालाब' उपन्यासों में गोरखपुर जिले के गोरा एवं ताप्ती नदियों के मध्य के ग्रामो को आधार बनाकर वहाँ के जनजीवन को प्रस्तुत किया है। डॉ० शिव प्रसाद सिंह ने पूर्वी उत्तर प्रदेश के करैता ग्राम के माध्यम से वहाँ की समस्याओं को चित्रित किया है। डा० राही मासूम रजा ने 'आधा' गांव उपन्यास में भारतीय हिन्दुओं और मुसलमानो की अभिन्न एकता के अनेक रूप प्रतिपादित किए हैं। पाकिस्तान बनने के समय गंगोली ग्राम के तन्नू मियां मुस्लिम लीग के कार्यकर्ता को डांटते हुए कहते हैं — 'मैं मुसलमान हूँ। लेकिन मुझे इस गाँव से मुहब्बत है क्योंकि मैं खुद यह गांव हूँ। अल्लाह तो हर जगह है फिर गंगोली और मक्का में क्या फर्क है ? तन्नू मियाँ एक बार पुनः अपने राष्ट्र प्रेम की उद्घोषणा करते हुए कहते हैं — गंगोली मेरा गांव है। मक्का मेरा शहर नहीं है, यह मेरा घर है और काबा अल्लाह मियाँ का।'

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकारों ने भारतीय उपेक्षित अंचलो को साहित्य में प्रतिबिम्बत करने के साथ-साथ भारतीय जनजातियों को भी चित्रित किया है। राजेन्द्र अवस्थी तृषित ने 'जँगल के फूल' 'सूरज किरण की छांव' तथा 'जाने कितनी आंखे' उपन्यासों में 'गौड़' जनजाति रागेय राघव ने 'कब तक पुकारू' में करनट जनजाति, श्याम परमार ने 'मोरझाल' में भील' जनजाति तथा योगेन्द्रनाथ सिन्हा ने 'वन के मन में' हो जनजाति, उदय शंकर भट्ट ने 'सागर लहरें और मनुष्य' में 'कोली' जनजाति के जीवन को प्रस्तुत किया गया है।

आनन्द प्रकाश जैन का 'आठवीं भाँवर' उदय शंकरभट्ट का 'लोक-परलोक' ओमप्रकाश निर्मल का 'बहता पानी रमता जोगी' केशव प्रसाद मिश्र का 'कोहबर की शर्त 'गुरू दयाल सिंह का 'मढ़ी का दीया' जगदीशचन्द पाण्डेय का 'गंगास के तट पर' जय प्रकाश भारती का 'कोहरे में खोये चान्दी के पहाड़' देवेन्द्र सत्यार्थी का 'ब्रह्मपुत्र' तथा 'रथ के पहिये' बलदेव दत्त शर्मा का 'गरीबी से आगे' मनहर चौहान का 'हिरना साँवरी' मधुकर गंगाधर का 'फिर से कहो योगेन्द्रनाथ सिन्हा का 'वन लक्ष्मी' राजेन्द्र सिंह वेदी का 'एक चादर मैली सी,

सुरेन्द्र पाल का 'लोक लाज खोयी' शानी का 'शालवनो का दीप' शैलेश मटियानी का 'चौथी मुठ्ठी 'चिठ्ठी रसैन, हौलदार' मोगरा, हिमांशु श्रीवास्तव का 'नदी फिर वह चली' ऐसे आंचलिक उपन्यास हैं जिनमें भारतीय जनजीवन एवं जनजातियों के जीवन की झांकी का दर्शन किया जा सकता हैं। भारतीय लोक जीवन, लोकभाषा, लोक संस्कृति इन उपन्यासों की ऐसी सम्पदा है जो, अन्य उपन्यासों से अलग कर देती है तथा विश्व साहित्य में भारतीयता को प्रस्तुत करती है।

अन्त में एवम् संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकारों ने अपने कथ्य में भारतीय सामाजिक व्यवस्था के पुनः निर्माण की यात्रा, सामान्य जन की प्रतिष्ठा राष्ट्रीय भावात्मक एकता एवं लोक संस्कृति की सुरक्षा के अभियान को आने वाली पीढ़ियों के लिए आरक्षित किया है तथा स्वातन्त्रयोत्तर काल में भारतीय मानवता के अभ्युदय के प्रयासों को विश्व मानवता के समक्ष प्रस्तुत किया है।

—o—

आठवें दशक की कहानी की सामाजिक चेतना

कहानी एक साहित्यिक विधा है एवं साहित्य समाज का प्रतिविम्ब है। आठवें दशक की कहानी की सामाजिक चेतना पर वार्ता प्रारम्भ करते समय उसके परिवेश के नियामक तत्वों अर्थात् सामाजिक पृष्ठभूमि पर विचार करना नितान्त आवश्यक है।

हमारे देश में आठवां दशक सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक सम्भावनाओं से परिपूर्ण रहा, तथा भारतीय संविधान में घोषित मानदण्डों एवं मानकों के अनुकूल भारतीय समाज में नाना प्रकार के परिवर्तन अवतरित हुये।

बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में भारतीय सामाजिक व्यवस्था के आधार परिवार के परम्परागत स्वर के में परिवर्तन स्वर के परिलक्षित हुए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारतीय संविधान में घोषित समाजवादी सिद्धान्तों को साकार करने के लिये केन्द्रीय एवं विविध सरकारों द्वारा जो प्रयास किए गये उनके परिणाम स्वरूप परम्परागत वर्णव्यवस्था एवं जाति व्यवस्था में परिवर्तन के स्वर सामने आये एवं सैकड़ों हजारों वर्षों से पद दलित तथा जर्जर जीवन यापन करने वाले व्यक्ति भारतीय शासन एवं प्रशासनिक व्यवस्था के अंग बने।

भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमति इंदिरा गांधी के अथक प्रयास एवं प्रभाव के कारण इस कालावधि में महिलाओं की सामाजिक पारिवारिक आर्थिक राजनीतिक एवं शैक्षणिक स्थिति में परिवर्तन के स्वर साकार एवं तीव्र हुये तथा नगरों में कार्यालयों में कामकाजी महिलाओं की गतिविधियों में विकास हुआ। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से ग्रामीण पंचायतों के पुनः निर्माण का प्रयास तीव्र किया गया एवं उनके माध्यम से भारतीय जनता के जन-जन को स्पर्श करने का प्रयास किया गया।

आठवें दशक में भारतीय राजनीतिक परम्परागत प्रजातांत्रिक संस्थाओं

का सुदृढ़ीकरण हुआ एवं भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था का अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सम्मान बढ़ा। भारतीय जनता ने कांग्रेस दल को सत्ता ने भेजकर उसके समाजवादी सिद्धान्तों में आस्था प्रकट की।

प्रधानमन्त्री श्रीमति इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में निरगुट राष्ट्रों के नेता के रूप में भारत ने विशेष ख्याति अर्जित की।

आठवें दशक में आर्थिक क्षेत्र में आशातीत विकास हुआ। निर्धनता की रेखा से नीचे रहने वाले करोड़ो व्यक्तियों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने का प्रयास किया गया। देश को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बनाने के लिये बीस सूत्रीय कार्यक्रम के माध्यम से उत्पादन बढ़ाने का विकास किया गया एवम् नियोजित विकास के कार्यक्रमो के माध्यम से भारतीय जनता के कल्याण के कार्य किये गये हैं।

आठवें दशक में शिक्षा के प्रकाश को दूर-दूर तक पहुँचाने तथा अशिक्षा एवं अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिये प्रौढ़ शिक्षा अनौपचारिक शिक्षा, वेसिक शिक्षा, बालाहार योजना आदि का विस्तार किया गया एवं भारतीय मानवता के नूतन लक्ष्यों का प्रचार प्रसार किया गया। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में विश्वविद्यालयों एवं माध्यमिक शिक्षा हेतु सरकार एवं गैर सरकारी शिक्षण संस्थाओं द्वारा विकास किया गया।

आठवें दशक में धर्म निरपेक्षता मं सिद्धान्तों के आधार पर भारत सरकार ने साम्प्रदायिक सौहार्द बनाने के लिये समय-समय पर आवश्यक कदम उठाये। साँस्कृतिक क्षेत्र में लोक संस्कृति की रक्षा के बिविध प्रयासों के साथ-साथ सम्पूर्ण विश्व मे भारत सरकार ने अहिंसा एवं समानता के आदर्शों का प्रचार प्रसार तथा विश्व शान्ति के लिये अपने संकल्पों को साकार रूप देने का प्रयास किया।

साहित्यिक जगत में आठवें दशक में हिन्दी भाषा में उल्लेखनीय लगभग चालीस कहाड़ी संग्रह प्रकाश में आये। जिनमें गिरिराज किशोर द्वारा विरचित 'शहर-दर-शहर' एवं 'हम प्यार कर लें' रवीन्द्र कालिया द्वारा विरचित 'गरीबी हटाओ'। 'गली कूचे' एवं सुखान्त, सुधा अरोड़ा द्वारा विरचित 'युद्ध विराम,

मेहरून्निसा परवेज द्वारा विरचित 'टहनियों पर धूप' 'गलत पुरूष' वदीउज्लमा द्वारा विरचित 'सीट न.६' एवं 'एक अदद औरत' रामदरश मिश्र द्वारा विरिचित 'ये खर्चीली बीवियां' राजकमल चौधरी द्वारा विरचित'अग्नि स्नान' विष्णु प्रभाकर द्वाराविरचित'मेरी तेतीस कहानियां' तथा'पुल टूटने से पहले' दीप्ति खण्डेलवाल द्वारा विरचित 'नारी मन' निरुपमा सेतली द्वारा विरचित 'भीड़ में गुम' सुर्दशन नारंग द्वारा सम्पादित 'श्रेष्ठ सचेतन कहानियाँ' जितेन्द्र भाटिया द्वारा विरचित 'शहादत नामा' रघुवीर मिश्र द्वारा विरचित 'मेरी प्रिय कहानियां' हिमांशु जोशी द्वारा विरचित 'जलते हुंए डैने' विजय देव भारती द्वारा विरचित मुस्लिम परिवेश की विशिष्ट कहानियां अरूणा सीतेरों की 'कोई एक अधूरापन' देवेन्द्र इस्सर द्वारा विरचित 'चतुर्दिक' नर्मदा प्रसाद खरे द्वारा विरचित 'बर्फ में दबी आग' गुरमुख सिंह जीत द्वारा विरचित 'घेरे में बंधे लोग' रामप्रकाश द्वारा विरचित 'जहर' चित्रा मुद्गल द्वारा विरचित जहर ठहरा हुआ' बाला दूबे द्वारा विरचित 'वहुरूपिये' मधुकर सिंह द्वारा सम्पादित 'ग्राम्य' जीवन की श्रेष्ठ कहानियां, मंगल पाण्डे द्वारा विरचित 'शब्द भेदी' द्वारा विरचित 'सवासन' 'अन्तिम अनुच्छेद' बलराम द्वारा विरचित 'कलम हुये हाथ' पंकज विष्ट द्वारा विरचित 'पन्द्रह जमा पच्चीस और कहानियां' मधुदीप तथा मधुकाँत द्वारा सम्पादित 'तनी हुई मुठ्ठियाँ' मूलचन्द प्राणेश द्वारा सम्पादित चश्मदीद गवाह' मोहनलाल साईल द्वारा सम्पादित 'आदमी की राह' राकेश वत्स द्वारा सम्पादित 'शुरूआत' श्यामव्यास द्वारा सम्पादित 'गली बैरागी' कृष्ण चन्द्र शर्मा भिक्खू द्वारा विरचित 'बेला फूले आधी रात' माली राम शर्मा द्वारा विरचित 'मुर्दों की साजिश' सतीश आलोक द्वारा विरचित 'रेगती हुई शाम' और मनीष राय द्वारा विरचित 'शिलान्यास' इत्यादि कहानी संग्रह हैं।

आठवें दशक के इन कहानीकारों के साहित्य को उनके परिवेश के आलोक में अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि कहानीकारों ने भारतीय समाज को अपने —अपने अनुभवों के आधार पर प्रस्तुत एवं प्रतिबिम्बित करने का प्रयास किया है। आज के युग की आवश्यकता यह है कि हिन्दी का कहानीकार

राष्ट्रीय आकांक्षाओं एवं आवश्यकताओं को परिपूर्ण करने वाले पात्रों एवं पाठकों को प्रेरणा देने वाले घटना चक्र को प्रस्तुत करें। जिससे हमारे देश की भावात्मक एकता सुदृढ़ हो एवं हमारे कर्णधारों द्वारा घोषित समाजवादी समाज के निर्माण की परिकल्पनां के साकार होने में सहयोग मिले।

—०—

रीति कालीन काव्य में लोक रंजन की भावना

हिन्दी साहित्य में रीति काव्यों की रचना अविच्छिन्न रूप से मुख्यतया जिस युग में होती रही, उसे इतिहास लेखकों ने रीतिकाल कहा और सवंत् १७०० से १६०० तक उसकी सीमायें निर्धारित की। हिंन्दी साहित्य का रीतिकाल संस्कृत के रीति सम्प्रदाय का प्रतिनिधि न होकर साधारणतया संस्कृत के विविध समीक्षा सम्प्रदायों से सम्बन्धित रस, अलंकार, वृत्ति, गुण, नायिका भेद आदि काव्यांगों पर लिखे गये लक्षण ग्रंथों का युग है। नन्ददास ने 'रसमंजरी' में, कृपाराम ने 'हितू तरंगिणी' में केशव ने 'कविप्रिया' तथा 'रसिक-प्रिया' में रस नायिका-भेद, अलंकार आदि का निरूपण रीतिकाल से पहले ही प्रारम्भ कर दिया था, इस काल में यह प्रवृत्ति और अधिक मुखरित होकर आयी, चिन्तामणि मतिराम, भूषण, कुलपति, देव, भिखारी दास, आदि सभी ने लक्षण-ग्रंथों की रचना की। लक्षण ग्रंथों के अतिरिक्त अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा करने, उनका मनोरंजन करने, उन्हें प्रोत्साहित-प्रेरित करने एवं समय-समय पर परामर्श प्रदान करने हेतु जिस साहित्य का सृजन किया गया उसमें लोकरंजन की भावना श्रृंगार के विविध-संयोग एवम् वियोग वर्णन षट ऋतु वर्णन नायिका का नख-शिख वर्णन, रूप वर्णन औरमें पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

महाकवि विहारी द्वारा विरचित 'सतसई' में विनय, भक्ति, रूप वर्णन नायिका के संयोग एवं वियोग अवस्थाओं में विविध चेष्टाओं एवम् भंगिमाओ के वर्णन में ऐसे अनेक दृश्य मिलते हैं जिनकी भाषा लोक-सुलभ एवम् भावना लोकरंजन से परिपूर्ण है। परिवार में सबके मध्य नायक और नायिका परस्पर वार्तालाप नहीं कर सकते पर बिहारी के एक दोहे में नयनों से अत्यन्त स्पष्ट सरल एवम् स्वाभाविक वार्ता होती है। देखें —

'कहत, नटत, रीझत खिजत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैननु ही सब बात॥

विहारी की नायिका के नयन लज्जा नियन्त्रण नहीं मान रहे और मुँह

जोर घोड़े की तरह, नायक की ओर बढ़ते ही जा रहे हैं —

'लाज-लगाम न मान हीं नैना मो बस नाहिं।
ए मुँहजोर तुरंग ज्यौ, ऐचंत हूँ चलि जाहिं।

अकुंरित यौवना नायिका की सखी नायक से उसके क्षण-क्षण पर बढ़ते हुए यौवन तथा शरीर क्रांति की प्रशंसा करती हुई कहती है —

"लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर।

बिहारी की नायिका का रुप क्षण-क्षण में विकसित होने वाला है इसी लिए उसका यथार्थ चित्र बनाना असम्भव है। ऐसे ही एक अन्य स्थल पर नायिका के रूप की रक्षा के लिये 'आभूषणों को पायदांज का कार्य सोंपने की कल्पना रसिक को आनन्द प्रदान करती है —

'मानहुँ विधि तन अच्छ छवि, स्वच्छ राखिवै काजा।
हग-पग पोंछन को करै, भूषण पायराज ॥

रीतिकालीन कवि शशिनाथ नायिका की चेष्टाओं का अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत करते हैं —

'छटि के कटि रंचक दीन भई, गति नैननि की तिरछानी लगी।
ससिनाथ कहें, उर ऊपर तें, अंयरा उयरे तें लजान लगी ॥
लरकाई के खेल पछेल कछुक, समानि सखीन पत्यान लगी।
पिय नाम सुनेतिय घोसक तें, दुरिके मुरिके मुसक्यान लगी ॥

होली खेलने गयी राधा के नयनों में कृष्ण का रूप प्रविष्ट हो गया तो राधा पद्माकर के शब्दों में कहती है —

धोई-धोई हारी, पद्माकर तिहारी सोह
अब तो उपाय एकोचित्त पै चढ़ै नहीं।
कैसे करो ? कहां जाऊं ? कासों कहों ? कौन सुने ?
कोउ तो निकासौं जासौ दरद बढ़ै नहीं ॥

ऐ री। मेरे वीर, जैसे तैसे इन आंखिन ते।
कढ़िगो अबीर पै अहीर को कढ़ै नहीं ॥

रीतिकालीन कवियों ने प्रेमिका की विभिन्न अवस्थाओं एवम् दशाओं का मनोहरी एवम् लोकरंजन से पूर्ण वर्णन किया है। कवि देव के शब्दों में नायिका की प्रेमशक्ति का दृश्य दर्शनीय है —

'मूर्ति जो मन मोहन की मन मोहिनी के मन है थिरकी सी।
देव गुपाल को बोल सुनै, छतियाँ सिमराति सुधा छिरकी सी॥
नीके झरोखा है झाँकि सकै न हीं, नैननि लाज घटा थिरकी सी।
पूरन प्रीति हिए हिरकी, खिरकी खिरकिनि फिरै फिरकी सी॥

इस युग के रीतिमुक्त स्वच्छंदतावादी कवि घनानंद बोधा, आलम, रसखान, मुबारक, ठाकुर द्विजदेव आदि के काव्य में प्रेम के अत्यन्त सहज स्वाभाविक सरल, सर्वजनीन, सार्वकलिक लोकप्रिय एवम् लोकभाषा में लोकरंजन से परिपूर्ण भाव मिलते हैं। घनानन्द प्रेम की अत्यन्त लोकप्रिय पद्धति प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं —

'अति सूधो सनेह को मारग है, जहां नेकु सयानप बाँक नहीं।
जहाँ सूधे चलें, तजि आपुनपौ, झिझकै कपटी ते निसाक नहीं।

लोकरंजन की दृष्टि से रीति कालीन रीतिमुक्त नीतिकार कवियों में वृंद, बैताल, गिरिधर कविराय और दीनदयाल गिरि का महत्वपूर्ण स्थान है। बैताल ने गिरिधर कविराम की तरह नीतिपरक सुन्दर कुण्डलियां लिखि हैं जिनका जनता में विशेष सम्मान हुआ। लोकभाषा में लोक मान्यताओं को प्रतिपादित करने वालों एवम् सम्पूर्ण मानवता को आनन्द प्रदान करने वाली एक कुण्डली यहां पर प्रस्तुत है —

मरै बैल गरियार रै मरै वह अड़ियल टट्टू।
मरै करकसा नारि, मरे वह खसम निखट्टू।
बामन सो मरि जाय, हाथ लै मदिरा प्यावै।
पूत वही मरि जाय, जो कुल में दाग लगावें॥
अरु बेनियाव राजा मरै, तबै नींद भर सोइये।
बैताल कह विक्रम सुनौ, ऐते मरे न रोइए॥

गिरधर कवि ने लोक व्यवहार एवं लोंक नीति से सम्बन्धित अपनी

कुण्डलियों से हिंदी रीतिकाल में अपना विशेष स्थान बनाया। उनकी लोकोपयोगी कुण्डलियों में से एक यहां पर प्रस्तुत करते हैं —

'रहिए लटपट कटि दिन, बरू घामहि में सोय।
छाहं न वाकी वैठिये, जो तरु पतरो होय॥
जो तरू पतरो होय, एक दिन धोखा देहै।
जा दिन वहै बयारि, टूट तब जर से जैहै॥
कह गिरधर कविराय, छाहं मोटी की गहिए।
पाता सब झरि जाय, तरू छाया में रहिए॥

रीति कालीन कवि भूषण के वीर–रस पूर्ण साहित्य में भी लोकरंजन पर्याप्त सामग्री सुलभ है।

अन्त में कहा जा सकता है कि अपने आश्रयदाता राजाओं का प्रमुख रूप से नारी के अंग-उपांग एवम् श्रृंगार के विविध अवमनों आदि का वर्णन करना उनके मनोरंजन का साधन था। एवं इसी काव्य से ये कवि प्रजा का भी मनोरन्जन करते थे।

—o—

हिन्दी महाकाव्य परम्परा और तुलसी

हिन्दी महाकाव्य परम्परा में गोस्वामी तुलसीदास द्वारा द्वारा विर-चित रामचरित मानस ऐसा महाकाव्य है जिसके अन्तर्गत संस्कृत भाषा के वाल्मिकी रामायण तथा महाभारत सदृश भारतीय संस्कृति के आधार ग्रंथों का प्रभाव एक ही स्थल पर परिलक्षित होता है तथा मानस हिन्दी की भक्ति कालीन रामाश्रयी काव्यधारा के प्रमुख प्रवर्तक ग्रन्थ के रूप में अपने सृजन काल के उपरान्त के अनेक काव्यों एवं महाकाव्यों के सृजन एवं प्रेरणा का कारण बना। मानस की लोकप्रियता सफलता एवं महत्ता से प्रेरित होकर केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' बाबा रघुनाथ दास सनेहों ने 'विश्राम सागर' रघुराज सिंह ने 'राम स्वयंवर' महन्त जानकीप्रसाद रसिक बिहारी ने 'राम रसायन' मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' रामचरित उपाध्याय ने 'राम चरित' चिन्तामणि, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध ने 'वैदही बनवास' डा० बल्देव प्रसाद मिश्र ने 'कौशल किशोर तथा साकेत' सन्त ज्योतिषी ने 'श्रीराम चन्द्र उदय' एवं प्रभात ने कैकयी तथा नवीन ने उर्मिला काव्य लिखे।

हिन्दी महाकाव्यों की परम्परा के प्रकाश स्तम्भ रामचरित मानस ने भारत एवं सम्पूर्ण विश्व में अपरिमित लोकप्रियता अर्जित को मानस के सम्बन्ध में बहुभाषाविद् डा. ग्रियर्सन ने 'एन्साइक्लोपोडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स' के पृ०४७१ पर लिखा है, तुलसी रामायण समस्त गंगा घाटो में इंग्लैंड में बाइ-बिल की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध है। डॉ० के ने हिन्दी लिटरेचर में पृष्ठ सं० ४७ तुलसी दास का स्थान निश्चित करते हुये लिखा है, हिन्दी साहित्य में तुलसीदास का स्थान निःसन्देह सर्वोच्च है और उनकी रामायण न केवल भारत में वरन्, समस्त संसार में सुविख्यात है। रूसी विद्वान वरान्निकाव ने तुलसी साहित्य एवं उनके रामचरित मानस के धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक तथा सामाजिक विचारों ने सदियों से भारतियों के मत निर्माण में गहरा असर डाला है और आज भी डाल रहे हैं। एक अमर साहित्यिक कृति के रूप में रामायण भारतीय काव्य का एक

अनुपम रत्न है इसकी रचना भारतीय काव्य परम्परा की भौतिक और गम्भीर प्रणाली के अनुरूप ही हुई है जो यूरोपीय प्रणाली से सर्वथा भिन्न है। अंग्रेजी विश्व कोष के थियोलोजी आफ तुलसीदास अंश में लिखा गया है कि गोस्वामी तुलसीदास की रचना जन समाज के लिये इतनी अनुकूल पड़ी है कि उनके वचनों को जनता कहावतो की तरह इस्तेमाल करती है। इतना ही नहीं, सैद्धान्तिक दृष्टि से उनकी रचना बड़ी उत्कृष्ट है। वर्तमान समय में हिन्दु समाज के अन्दर उनके उपदेशों का जो प्रभाव है वह अन्य किसी का नहीं। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने तुलसी प्रणीत रामचरित मानस की श्रेष्ठता स्वीकारते हुए कहा है, 'तुलसीदास की रामायण मुझे अत्यन्त प्रिय है ओर उसे मैं अद्वितीय ग्रन्थ मानता हूँ। मानस का प्रत्येक पृष्ठ भक्ति से भर-पूर है। यह अनुभव जन्य ज्ञान का भन्डार है।' राष्ट्रीय सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से तुलसी कृत रामचरित मानस की प्रशंसा करते हुये विनोबा भावे लिखते हैं — भारतीय साहित्य के इतिहास में तुलसीदास जी की रामायण का एक स्वतन्त्र स्थान है। हिन्दी राष्ट्र भाषा है और भाषा का यह सर्वोत्तम ग्रन्थ है अतः राष्ट्रीय दृष्टि से इस ग्रन्थ का स्थान अद्वितीय है, भारत के करोड़ों लोग इसे वेद तुल्य प्रामाणिक मानते हैं, यह नित्य परिचित तथा धर्म जागृति का एक मात्र आधार है अतः धार्मिक दृष्टि से भी इसे अद्वितीय स्थान प्राप्त हुआ है।

तुलसीदास की सर्वाधिक लोकप्रियता का कारण उनकी समन्वयात्मकता है, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में भारत वर्ष का लोकनायक वही हो सकता है, जो समन्वय कर सके क्योंकि भारतीय समाज में नानाभाँति की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएं, जातियाँ, आचार निष्ठा, और विचार पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेब समन्यवकारी थे, गीता में समन्वय की चेष्टा है तथा तुलसी दास भी सवन्यकारी थे वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदास ने अपने महाकाव्य रामचरित मानस मे धार्मिक दृष्टि से निर्गुण-सगुण, वैष्णव, शक्ति, शैव, सर्वदेव कर्म, ज्ञान, एवं भक्ति का सामाजिक दृष्टि से सन्त और असन्त, व्यक्ति और समाज, व्यक्ति और परिवार, ब्राह्मण तथा शुद्र और राजा तथा प्रजा का समन्वय एवं साहित्यिक दृष्टि से भाषा,

शैली एवं विविध भावों का समन्वय प्रस्तुत किया। तुलसीदास ने अपने समय में प्रचिलित सभी मत–मतान्तरों एवं अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के विविध रूपों का समन्यवय कर लोकनायक का स्थान प्राप्त किया एवं समन्वय का यह व्यापक रुप अन्य किसी भी महाकाव्य में दुर्लभ है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के शब्दों में कह सकते हैं — लोक नायक तुलसी हिन्दी काव्य गगन के सबसे अधिक दीप्ति मान नक्षत्र हैं। उनकी काव्य प्रतिभा और पाण्डित्य का प्रभाव देश काल की सीमा का अतिक्रमण कर आज सार्वकालिक और सार्वभौमिक होकर सर्व व्याप्त हो गया है। उनकी काव्य कृतियां अपनी प्रभूत भाव-सामग्री, अनुभव, अभिव्यक्ति पद्धति, समृद्ध भाषा शैली, प्रचुर कल्पना सृष्टि, अद्‌भुत वस्तु विनियास और उत्कृष्ट काव्य कौशल के कारण हिन्दी काव्य में सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है।

तुलसी प्रणीत मानस में भारतीय हिन्दू समाज की परम्परागत मानसिकता, आस्था, विश्वास, धार्मिक-संस्कार, सांस्कृतिक सम्पदा एवं समन्वयात्मकता के अतिरिक्त सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण की जो व्यवस्था प्रस्तुत की गयी है, वस्तुतः वह मानस को भारत की सीमाओं से ऊपर उठाकर सम्पूर्ण विश्व के साहित्यिक धरातल पर प्रतिष्ठित करती है। सम सामयिक परिवर्तित सन्दर्भों में जब सम्पूर्ण विश्व एक विचित्र सम्पन्नता एवं विपन्नता के मध्य जीवन यापन कर रहा है, मानस में प्रतिपादित लोक नीति, राजनैतिक पद्धति, आर्थिक नीति एवं प्रेमाभक्ति मानव जाति को कल्याण के पथ पर अग्रसर कर सकता है। गोस्वामी तुलसीदास मानस में अपने लोकनीति सम्बन्धी विविध विचारों का अनेक स्थलों पर प्रस्तुतीकरण करते हैं। दूसरों के कल्याण की कामना को मानव का सर्वोपरि धर्म स्वीकारते हुए मानसकार लिखते हैं —

परहित सरिस धर्म नहीं भाई,
पर पोड़ा सम नहिं अधमाई।

मानव में परोपकार-बुद्धि के साथ-साथ न्याय बुद्धि, दया उदारता, दूरदृष्टि, तर्कशरता, धृति, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह आदि अनेक सात्विक गुणों की वद्धि से ही मानव कल्याण सम्भव है।

मानस की कर्म के सिद्धान्त में पूर्ण निष्ठा रखते हुये समसामयिक युग के

सत्ता में मदान्ध व्यक्तियों को प्रथभ्रष्ट न होने तथा सम्पूर्ण मानवता को विनष्ट होने से बचाने के लिये अपने कर्मों का ध्यान देने के लिए कहते हैं । महाभारत-कार एवं अन्य भारतीय मनोषियों की भांति तुलसीदास भी सम्पूर्ण विश्व मानवता का कल्याण उसके श्रेष्ठ एवं निष्काम कर्म पर ही अविलम्बित मानते हैं । मानसकार के शब्दों में —

कर्म प्रधान विश्व कर राखा,
जो जस करई सो तस फल चाखा ।

समसामयिक युग में नित नूतन आणविक आयुधों का निर्माण कर जिन राज्याध्यक्षों ने सम्पूर्ण मानवता को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है और मानवता के कल्याण का कोष अस्त्र-शस्त्रों एवं सेनाओं के विकास पर व्यय करना प्रारम्भ कर दिया है, उन्हें मानस कार राजा का धर्म, शील एवं नीति समझाते हुए कहते हैं —

'जासुराज प्रिय प्रजा दुखारो,
सो नृप अवसि नरक अधिकारी ।

और अनीति का अनुसरण करने वाला राजा रावण की भाँति विनाश को प्राप्त होता है ।

गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि में राजा को शील एवं धर्म का मर्मज्ञ होना चाहिए । भरत के शब्दों में मानसकार लिखते हैं —

'कहौ सांच सब सुनि पतियाहुँ,
चाहिए धर्म सील नर नाहुँ ।

तुलसी के आराध्य एवं आदर्श पात्र राम शील निधान राजा हैं । जो अपनी प्रजा को अपने प्राणों से अधिक स्नेह करते हैं । राजा रामचन्द्र के शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, बल, विवेक, दम, परहित, क्षमा, कृपा, समता, ईशभजन, विरति (वैराग्य) सन्तोष, दान, बुद्धि, अमल–मन (संयम नियम) आदि गुणों का वर्णन आधुनिक युग के राज नेताओं के लिए भी अनुकरीय एवं प्रेरणा प्रद है । मानसकार राज्य व्यवस्था में गुप्तचर, दूत, मन्त्रियों. सेना, एवं शासन के अन्य अंगों को भूमिका का वर्णन करते हैं । मन्त्री को निर्भीकता का समर्थन करते हुए

गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है —

'सचिव वैद्य गुरू तीन जो, प्रिय बोलहिं भय आस ।
राज धर्म तन तीन कर, होई बेगहिं नास ॥

मानस के सुन्दर काण्ड के इस अंश से यह स्पष्ट है कि तुलसीदास उसी मन्त्री का समर्थन करते हैं जो धर्म निष्ठ, राज्य हित चिंतक, तथा निज स्वार्थों का परित्याग करने वाला हो। इसीलिये एक अन्य स्थल पर गोस्वामी तुलसीदास राजा को परामर्श देते हुए लिखते हैं कि मन्त्रियों के नीति विरोधी परामर्श को स्वीकार न करे। लंका कांडमें रावण को सभा में उसके भय से जब मन्त्री उसे न्यायोचित मन्त्रणा न देकर उसे कुमार्ग पर चलने की ही प्रेरणा देते हैं तो प्रहस्त इस शाश्वस्त सत्य का इस प्रकार प्रदर्शन करता है।

'नीति विरोध्य न करअ प्रभु,
मन्त्रिन्ह मति अति थोरि।

सदाचार सम्पन्न राजा रामचन्द्र के कारण प्रजा सब प्रकार के कष्टों से दूर. परस्पर प्रेम, सहानुभूति, उदारता, पर उपकार एवं सुख समृद्धि के वातावरण में रहती है। इसीलिये मानस को अर्थव्यवस्था में सब व्यक्ति अपने अपने धर्म के अनुसार अपना व्यवसाय कर सन्तोष बुद्धि से वित्तार्जन करते थे तथा कोई भी व्यक्ति दरिद्र दुःखी या दीन न था :—

'सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं सधर्म निरत श्रुति नीती ॥
+ + + +
नहिं दरिद्र कोई दुःखी न दीना। नहिं कोई अबुध न लच्छन हीना ॥

और अन्त में हिन्दी महाकाव्यों की परम्परा में मानस की प्रथम एवं सर्वोपरि समादृत स्थिति का कारण है उसमें तुलसी द्वारा प्रतिपादित भारतीय परम्परागत धार्मिक मूल्य इस प्रक्रिया के मध्य विद्वान कवि ने धर्म - प्राण भारतीय जनता के परम्परागत जीवन मूल्यों, आस्थाओं, विश्वासों, आदर्शों एवं धार्मिक कार्य पद्धतियों एवं व्यवस्थाओं को रूपायित करा है तथा पात्रों एवं कथा सृष्टि के माध्यम से सहज सुलभ साकार किया है। जिनका अनुगमन करना हम सबके लिये सहज है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने युग को जर्जर

सामाजिक व्यवस्था को गति प्रदान करने के लिये इन सांस्कृतिक एवं धार्मिक उपादानों का प्रयोग किया। इन धार्मिक उपादानों के मध्य तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित प्रेमा भक्ति ही ऐसा सफलता का सूत्र है जो आज सम्पूर्ण मानवता को उसके सब प्रकार के द्वन्दों, सम्बन्धों एवं संकटों से मुक्ति प्रदान कर सकता है। प्रेमाभक्ति परम पिता परमात्मा में आस्था एवं विश्वास रखने, उसके समक्ष समर्पित होने तथा उसे सम्पूर्ण सृष्टि का सर्जक स्वीकार करने पर ही सुलभ हो सकती है। मानव स्वयं एवं सृष्टि को परम पिता परमात्मा की परम कृपा का परिणाम मानकर ही निष्काम कर्म करते हुए अपना एवं मानवता का भला कर सकता है। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदास मुनि वशिष्ठ के मुख से मानस में कहलाते हैं –

'प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभि अंतर मल कबहुं न जाई।।

और एक अन्य स्थल पर परम त्यागी महामुनि वशिष्ठ राम से यही वर माँगते हैं –

नाथ एक वर माँगहुं, राम कृपा करि देहु।
जन्म–जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु।।

भक्ति के विविध सोपानों का वर्णन तुलसीदास ने अपने महाकाव्य मानस एवं जीवन पर्यन्त सृजित विविध काव्यों में किया है। वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदास ने मानस एवं अपने सम्पूर्ण प्रदेय के माध्यम से विश्व मानवता के मंच पर भारतीय मनीषा एवं अनुभवों की साधना के विविध आयामों को अपनी बहुमुखी प्रतिभा के साथ प्रस्तुत किया है। एवं वे कालजयी तो हैं ही, अपने शाश्वस्त विचारों से सब कालों के लिये उपयोगी, अजर एवं अमर है।

—०—

सुमित्रानन्दन पन्त-एक साक्षात्कार

अनुसंधान एवम् अध्ययन हेतु इलाहाबाद में जाने का अवसर मिला सुश्री महादेवी वर्मा एवम् श्रीमुत सुमित्रानन्दन पन्त जी से मिलने का कार्यक्रम बनाया महादेवी जी देहली जाने वाली थीं, इससे वार्ता न हो पायी पन्त जी से सम्पर्क करने पर साक्षात्कार हेतु समय निर्धारित हो गया।

मैं जब आवास पर पहुँचा, तो कुछ बाहर से आए अतिथियों के साथ पंत जी खादी की इक्हरी जाकट बनियान के स्थान पर अधोवस्त्र के स्थान पर खादी का तहमद धारण किए हुये थे। अपने आवास में प्रकृति के सुकुमार कवि पन्त भारतीय ग्रामीण जीवन से सम्पक्त लोकायतन के महाकवि पन्त प्रतीत हो रहे थे। उनके श्वेत रेशम के से सुन्दर कढ़े हुये बाल अनुभव की विराटता एवं व्यापकता की छाप छोड़ रहे थे।

उनसे वार्ता होने के उपरान्त उन्होंने अगले दिवस आने के लिये कहा एवम् मुझे विदा किया। अगले दिवस प्रातः काल जब मैं पहुँचा तो पन्त जी पूजा कर रहे थे। पूजा के उपरान्त पन्त जी और मैं पास-पास कुर्सियों पर बैठ गए और संस्कृति, भारतीय संस्कृति, तथा समाज में अवतरित परिवर्तनों पर उनका साक्षात्कार प्रारम्भ हो गया। मेरा उद्देश्य था कि संस्कृति एवं भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में इस युग के महाकवि के विचारों से स्वयं को तथा आने वाली पीढ़ी को लाभान्वित करूँ।

मैंने पन्त जी से पूछा, 'संस्कृति से आपका क्या अभिप्राय है' ?

पन्त जी बोले, कुछ ऐसे मानवीय मूल्य होते है, जो समाज विशेष की जीवन पद्धति का अंग बन जाते हैं। ये मनुष्य की उदान्त भावना के द्योतक होंगे। प्रकृति ने मनुष्य में अनेक प्रकार की प्रवृत्तियां दी हैं। उन प्रवृत्तियों का पष्ठिाकार एवं संस्कार कर मनुष्य ने उन्हें मानवोचित रूप दिया है। विभिन्न प्रदेशों के साँस्कृतिक मूल्यों में कुछ समानता होती रहती है और कुछ भेद भी रहते हैं। भारतीय जीवन में मुख्यतः सांस्कृतिक मूल्य है। जब हम प्राचीन काल से मध्य-

युग की ओर आते हैं तो हमें लगता है कि सदियों की राजनीतिक पराधीनता के कारण प्राचीन मूल्यों की व्यापकता संकीर्ण होती गयी है और भारतीय संस्कृति विचार धारा विषेध और वर्जना से अत्यधिक विलिप्त हो पारलौकिक एवं जीवन विमुख बनती गई है। संसार को माया मिथ्या समझने के कारण हमारी सामाजिक एकता और संगठन कमजोर होता गया और सारा समाज बहुमतों में विभक्त, रुढ़िग्रस्त, निष्क्रिय यथा निश्चेष्ट होता गया। आधुनिक युग में वैज्ञानिक युग के सम्पर्क में आने के कारण हम सामाजिक दृष्टि से पुनः व्यापक मूल्यों की ओर अग्रसर हो रहे हैं और उपनिषदों के युग से जो हमारे देश को अन्तः दृष्टि मिली है भविष्य में हम उसका सदुपयोग कर सकेंगे।

भारतीय समाज की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर पन्त जी धारा-प्रवाह बोलते गये एवं मैं एक छात्र के रूप में लिखता गया। इसके उपरान्त मैंने उनसे भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों के बारे में बोलने के लिए कहा, पन्त जी ने कहा, सर्वभूतों की एकता, शाश्वत सत्य पर विश्वास, ज्ञान, भक्ति तथा कर्म इन मार्गों से मनुष्य के अन्दर प्रच्छन, दिव्य आत्मिक स्वरूप का साक्षात करना और उसके लिए शुद्ध आचरण, शुद्ध विचार तथा जीवनोपाय के शुद्ध साधनों का उद्योग करना, भारतीय संस्कृति प्राणियों की एकता पर विश्वास रखने के कारण 'वसुधैव कुटुम्बकम' जैसी व्यापक दृष्टि में आस्था रखती है। अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि भारतीय संस्कृति के ताने बाने कहे जा सकते हैं। दैनिक जीवन के ऊपर मनोमय जीवन की विजय यह भारतीय संस्कृति का मुख्य लक्ष्य रहा है।

भारतीय ग्रामीण संस्कृति में अवतरित परिवर्तनों के सम्बन्ध में पन्त जी बोले। भारतीय ग्रामीण समाज में विशेषकर मध्य वर्ग के पुरातन मूल्यों का तीव्र विघटन हुआ है और यह होना आवश्यक भी था क्योंकि जब तक पतझर नहीं होगा, बसन्त नहीं आयेगा। नवीन सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिये पुरातन व्यवस्था का विघटन होना अनिवार्य एवं आवश्यक है। वास्तव में यह सक्रांति काल है, जिसमें नये मूल्यों की स्थापना होगी एवं पुरातन मूल्यों

का लोभ जगजमगाया।

इसके बाद मैंने पन्त जी से पूछा कि यदि ग्रामीण समाज विघटित अवस्था की ओर तीव्र गति से उन्मुख है तो उसे संघटित अवस्था की ओर संचालित करने के लिये आप कुछ समझायेंगे। पंत जी बोले, बात यह है कि संघटन विकास का प्रथम कदम है। वातावरण के विकास की तीव्रता से संघटन की प्रक्रिया तीव्र होगी यह समय सापेक्ष है।

इसके बाद मैंने पूछा. 'क्या साहित्यकार इस प्रक्रिया में कुछ योगदान कर सकता है? पन्त जी बोले, 'हाँ कर सकता है प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष भी कर सकता है। प्रत्यक्ष तो उतना नहीं जितना अप्रत्यक्ष पूर्वक कर सकता है। वह चरित्रों, पात्रों, घटनाओं के माध्यम से संस्कृति, विकास एवम् एकता में योगदान कर सकता है।

अन्त में मैंने आंचलिक उपन्यासों के प्रदेय के सम्बन्ध में पूछा तो बोले साहित्यकार अपने चिंतन एवं जीवन दर्शन के अनुसार अपने उपन्यास को चित्रित करता है। आज नृतत्वशास्त्र के युग में मानव जीवन, मानव-चरित्र और मानव-व्यक्तित्व की विशेषताओं का व्यापक और सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन मानव संस्कृति और मानव एकता के लिये आवश्यक माना जाता है। मानव जाति की एकता को प्रतिष्ठित करने, मानवीय संवेदना को जागृत करने, आदिवासियों के प्रति समानता का भाव जागृत करने, पिछड़े अस्पृश्य लोगों के प्रति समानता का भाव जागृत करने, लोक संस्कृति को सुरक्षा प्रदान करने, का कार्य आंचलिक उपन्यास कर रहे हैं। लोक संस्कृति वर्ग संस्कृति की नींव है। लोक संस्कृति का संरक्षण और उसका अध्ययन वर्ग संस्कृति के लिये इसलिए भी आवश्यक है कि यह दोनों संस्कृतियों के सेतु का कार्य करता है यह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। इससे पूर्व वर्ग एवं नागरिक जीवन पर आधारित उपन्यास लिखे गए थे। इनसे कला संस्कृति एवं सौंदर्य बोध का क्षेत्र व्यापक हुआ है।

—०—

महादेवी वर्मा एक संस्मरण

'आज रक्षा बन्धन है, चलो, महादेवी जी के यहाँ चलते हैं। मैंने अपनी धर्म पत्नि श्रीमति पुष्पा नागर से कहा, मैं पुष्पा के साथ कुछ समय के उपरान्त हिन्दी साहित्य की अमर कवियत्री श्रीमती महादेवी वर्मा के इलाहाबाद में अशोक नगर स्थित आवास पर पहुंच गया। मार्ग में न्याय मार्ग पर कुछ रिक्शा वालों से उनके आवास का मार्ग ज्ञात किया तो सभी ने उनका रास्ता बता दिया।

इससे स्पष्ट हो गया कि महादेवी जी की साहित्य के साथ-साथ समाज में भी आस-पास के लोगों द्वारा जानी जाती हैं। महादेवी जी के विशाल आवास के बाहर कुछ सेविकायें एवम् एक सेवक मिला। उनसे हमने कहा, हमे महादेवी जी से मिलना है, हम मुरादाबाद से आये हैं। हमें बताया गया कि उनकी तबियत ठीक नहीं है, फिर भी हम पूछकर बताते हैं। महादेवी जी से मिलने मैं दूसरी बार गया था। पहली बार उनसे भेंट न हो पायी थी। वे दिल्ली जाने की तैयारी कर रहीं थीं। इस बार भी मन में यह आशंका बनी थी कि वे मिलेंगी या नहीं, जब मैं मन में सोच ही रहा था तब ही उनके एक सेवक ने आकर बताया कि आप बैठ जाइए, वे आध-पौन घंटे बाद आपसे मिल पायेंगी। हम दोनों उनके आवास के बरामदे में बैठे और परस्पर वार्तालाप करते रहे।

कुछ समय के उपरान्त अन्दर से खबर आयी कि आप अन्दर आ जाइये हम बरामदे में से उठकर उनके ड्राइंग रूम में चले गये जो एक प्रकार की ऐसी कुटिया जैसा लगा जिसमें न आधुनातम गद्दे एवम् सोफे हैं और न महात्मा गांधी के सेवाग्राम वर्धा जैसा आश्रम जिसमें चटाई बिछी थी, परन्तु वहां एक चौकी बिछी थी, जिस पर खादी का वस्त्र आच्छादित था एवम् चारों ओर विशाल पर्दे आच्छादित थे और जिनपर महात्मागांधी और महात्मा बुद्ध के चित्र बने थे। मैंने पुष्पा से बताया, ये विशाल चित्र महादेवी जी ने स्वयं बनाए हैं। इन पर्दों के ऊपर महादेवी जी की तूलिका से विकसित विविध चित्र विविध मनोभावों को परिलक्षित करने वाले दिख रहे थे। उनकी चौकी पर खादी से

निर्मित वस्त्र पड़े थे। एवं उसके पास बैठने के लिए छोटे-छोटे मूढ़े पड़े थे। मूढ़ों के पास धरा पर एक बड़ा सा कालीन विस्तीर्ण था। मैं चौकी पर बैठ गया एवं पुष्पा एक मूढ़े पर बैठ गयी और इसी मन्दिर सदृश ड्राइंग रूम को चारों ओर से निहारने लगे।

कुछ ही क्षणों के उपरान्त सुश्री महादेवी वर्मा अन्दर से आयीं और हम उन्हें देखकर उनके सम्मान में खड़े हो गये। महादेवी जी श्वेत खादी पर चौड़ी पट्टी की सुन्दर लगने वाली साड़ी से विभूषित थीं। हम इस समय सम्पूर्ण संसार से विलग एवं एक अमर विभूति के सामीप्य में बैठे थे। जीवन में प्रथम दर्शन के समय ऐसी लग रही थीं, जैसे कोई अलौकिक जगत की देवी हों और धरा पर अपना सर्वस्व दान करने के लिये उतरीं हों। उनके भाव एवम् शब्द देख सुनकर हम स्वयं को भूल गये थे तब ही मैंने प्रेरणा प्रकाशन मुरादाबाद द्वारा प्रकाशित 'महादेवी-विचार और व्यक्तित्व' पुस्तक उन्हें भेंट की। यह पुस्तक मेरे काका जी श्री शिवचन्द्र नागर ने उनसे विविध अवसरों पर साक्षात्कार के आधार पर लिखी थी, इस पुस्तक को देखकर, हाथ में लेकर उलट-पलट कर, महादेवी जी, काका जी के फोटो को देखकर कहने लगीं, देखो 'कैसा बैठा है' 'टाई लगाए हुए' 'टाई क्रास का चिन्ह है''यह ईसाइयों की वेषभूषा है' 'यह भारत है' आदि-आदि। मैंनेकहा 'आप इस पुस्तक के बारे में कुछ लिखिए, वे बोली, 'आजकल लिखने में बहुत जोर पड़ता है, झुक कर लिखते-लिखते स्पोंड लाइटिस हो गयी, डाक्टरों ने यह लोहे की सपोंट लगायी है, उसे उन्होंने निकाल कर पास में रख दिया।

इसके बाद महादेवी जी धारा-प्रवाह बोलती चली गयीं। उन्होंने कहा 'कल बकरा ईद थी'। मैंने कल दिन भर खाना नहीं खाया। मेरे कानों में छोटे-छोटे मेमनों के रोने की आवाज आती रही और मेरा दिल उनके दुःख दर्द से भरा रहा। इसी क्षण मैंने मुंह ऊपर उठाकर देखा कि महादेवी जी के नयनों से अश्रु धारा प्रवाहित हो रही थी और वे कह रही थीं 'यह गांधी का देश है। यह बुद्ध का देश है। यह महावीर का देश है और पता नहीं यह कैसा धर्म है जिसमें जीवों की हत्या की जाती है। इसके बाद महादेवी जी बोली 'सरकार ने बम्बई और कलकत्ता में बध-शालायें बनवा दी है जिनमें हजारों गाय रोज

कटती हैं। इस बात पर मेरे मन में यह आया कि यह एक बहुत बड़ा उद्योग है पर साहित्यकार हैं और इन्हें जीवों के प्रति अपनी करूणा एवं संवेदना रखने का पूर्ण अधिकार है।

महादेवी जी निरन्तर बोलती चलती गयीं। सरकार के बारे में पुनः बोलीं, 'सरकार ने गाँव-गाँव शराब की दुकानें तो पहुंचा दीं हैं पर अभी तक विद्यालय नहीं पहुँचे'. भारत के प्रधानमन्त्री श्री राजीव गाँधी के बारे में बोलीं, राजीव तो अच्छा लड़का है? पर उसके यह सलाहकार ठीक नहीं हैं।

इसके बाद तुरन्त अन्दर से रक्षा बन्धन का टीका करने के लिये रोली एवं चावल से सजी थाली लायीं और उन्होने हम दोनों का टीका लगाया। हमें लगा कि आज का दिवस हमारे जीवन में भारतीय इतिहास में अमर हो गया जब महादेवी जी ने हमें तिलक लगाया एवं हमारे प्रत्येक अभियान में विजय श्री का आर्शीवाद दिया। उसके कुछ क्षणों के बाद छायाकार आया और उसने छाया चित्र लेने प्रारम्भ किए।

उसके बाद नाश्ते का सामान आया। रक्षा बन्धन पर स्वादिष्ट मिठाई चाय आदि खाने के लिये महादेवी जी ने दीं। मुझे लगा कि हम लोग न तो कोई पूर्व परिचित ही थे और न कोई पूर्व सूचना के उपरान्त ही इनके पास आये थे। आज अचानक तीर्थराज प्रयाग में त्रिवेणी के स्नान के उपरान्त महादेवीजी के दर्शन का भाव मनमें आया और गंगा और यमुना के मध्य प्रच्छन रूप से मिलने वाली सरस्वती धारा यहाँ साकार रूप से अपने करूणा रस से आप्लावित कर रही हैं और आज जब वे इस लोक में भौतिक रूप से नही हैं, तब ऐसा लगता है कि गंगा यमुना के संगम में सरस्वती एक बार पुनः अपनी अजस्त्र यश-धारा भारतवासियों के लिये छोड़कर सम्मिलित हो गयी हैं।

महादेवी जी ने मैथिलीशरण गुप्त के पुत्र की पीड़ा का उल्लेख करते हुये कहा, गुप्त जी की सब पुस्तकों का पारिश्रमिक सीयाराम शरण का लड़का खा लेता है, उसे देता नहीं, मेरे पास दोनों आते हैं पर कभी साथ-साथ नही आते जो दोनों को समझा दूं।' अपने हाथों के कड़े दिखाते हुये महादेवी जी बोलीं महात्मा गाँधी ने हमसे कहा, इस आन्दोलन में तुम जो दे सकती हो दो, हमने अपने हाथों के सोने के कड़े दे दिए थे तब से ये कड़े पहने रहते हैं।

इसके बाद और कुछ बातें होतीं, तब ही एक नवयुवक आकर बैठ गया जो कविता लिखा करता था और महादेवी जी को दिखाया करता था। हम हाथ जोड़कर प्रणाम करने लगे और महादेवी जी उस नवोदित कवि से वार्ता करने लगीं।

महादेवी जी के मन्दिर रूपी ड्राइंग रूम से निकलते हुए हमें लगा कि हम लोग किसी अलौकिक परिवेश से बाहर आ रहे हैं अथवा किसी ज्ञानधारा में स्नान कर हृदय को निर्मल कर आ रहे हैं।

गंगा में स्नान करने से हमारी देह स्वच्छ एवं शुद्ध हुयी थी पर महादेवी जी रूपी सरस्वती में स्नान कर हमारा हृदय निर्मल हो गया था एवं हृदय पर एक अमिट छाप अंकित हो गयी थी।

—०—

छायावाद का दार्शनिक धरातल

–शिवचन्द्र नागर

साहित्य तो मूलतः जीवन की ही अभिव्यक्ति है। अतः साहित्य की किसी विशिष्ट धारा पर विचार करने से पूर्व उस युग विशेष की सामाजिक चेतना, परम्परा, आदर्श एवं परिस्थितियों का आकलन करना आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक युग अपनी एक विशिष्ट विचारधारा से इतिहास में प्रतिष्ठित होता आया है और वही विचारधारा उस युग के साहित्य को अनुप्राणित करती है एक विशिष्ठ दार्शनिक आधार प्रदान करती है और साहित्य में भी वह युग उसी नाम से जाना जाता है। हिंदी कविता की छायावादी धारा भी इस सिद्धान्त का अपवाद नहीं।

कालक्रम की दृष्टि से दो महायुद्धों के बीच की हिंदी कविता को हिंदी साहित्य में छायावादी युग की संज्ञा दी जाती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि छायावाद का चलन द्विवेदीकाल की रूखी इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। पर हमारी दृष्टि में छायावाद को द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया न कहकर उसका स्वाभाविक विकास कहा जाय तो अधिक उचित होगा क्योंकि छायावाद को द्विवेदी युग की अंगुली पकड़ कर आया था और कला एवं भाव पक्ष दोनों ही द्रष्टियों से एक विशिष्ट विकास को प्राप्त हुआ। शिक्षा के प्रसार के साथ साथ इस युग में व्यक्ति स्वातत्रय की भावना प्रबल हो रही थी। शिक्षित वर्ग का विश्वास था कि सामन्तवादी समाज व्यवस्था को तोड़ने से ही व्यक्ति स्वातंत्र्य प्राप्त होगा और अन्ततः उसी से लोक कल्याण सम्भव है। उसकी आँखों के सामने एक आदर्शवादी मधुर स्वप्न झूल रहा था पर सामाजिक यथार्थ था उसके सर्वथा विपरीत। इन्हीं परिस्थितियों में विकसित होने वाली छायावादी कविता का दार्शनिक आधार भी उन परिस्थितियों के अनुरूप ही है।

छायावादी दर्शन का केन्द्रबिंदु व्यक्ति था। छायावादी कवि के अन्तर में प्रतिष्ठित स्वतन्त्र व्यक्ति-उसके युग का स्वप्निल आदर्श। वह अपनी कविता

में उसी को व्यक्त करने के लिये आकुल हो उठा। विषय-वस्तु की खोज में वह बाहर नहीं भटका बल्कि अपने अन्तर की सूक्ष्म तरंगों को विचित्र करने में जुट गया। परिणामतः छायावादी कविता में समाज के सुख-दुख को वाणी नहीं मिली, वह व्यक्ति की इच्छा—आकाँक्षाओं विश्वासों एवं स्वप्नों के प्रति ही अधिक जागरूक है। उसमें कटु यथार्थ से पलायन की वृत्ति पाई जाती है। दूसरी ओर उसका काव्य एक प्रकार की रेशमी स्वप्निलता और अतीन्यि काल्पनिकता से भी व्याप्त हैं। छायावादी कवि ने अपने मन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के लिये उसके सर्वथा उपयुक्त चित्रमयी, कोमल और व्यंजक भाषा शैली का उपयोग किया। कवि की स्वानुभूति के योग से भाषा में सरसता और प्रवाहशीलता आ गई थी और जिसमें उक्ति वैचित्र्य का अप्रतिम आकर्षण भी था। किंतु छायावादी कविता केवल भाषा शैली का ही वैशिष्टय लेकर आई हो सो बात नहीं उसकी सर्वोपरि विशेषता तो उसमें निहित विशिष्ट दार्शनिक पक्ष ही है।

आदर्शवादी स्वप्नों और उन स्वप्नों के प्रतिकूल निष्ठुर यथार्थ के बीच झूलनेवाला आत्मनिष्ठ छायावादी कवि सहज ही प्रकृति की ओर आकर्षित हो गया। क्योंकि वही उसके अभावों की पूरक हो सकती थी और उसके निर्बंध स्वप्नों को आकार दे सकने वाली सरस चित्रशाला।

अतः छायावाद की दार्शनिक भावभूमि अतिशय वैयक्तिक होते हुए भी उसमे प्रकृति की अपमी स्वतन्त्र सत्ता है और वह दिव्य चेतना एवं असीम सौंदर्य से व्याप्त है। इतना ही नहीं, छायावादी काव्य में प्रकृति की प्रतिष्ठा एक ऐसी प्राणवान एवं कलात्मक रंगभूमि के रुप में हुई है जहाँ की प्रत्येक वस्तु मानवीय भावनाओं से पुलकित है और मानवीय क्रिया-कलापों में नियोजित है। उदाहरणार्थ पन्त जीने 'वीणा में अंधकार को रात का सहचर और पल्लव में छाया को वृक्ष का प्रेयसी कहा है :—

अब न अगोचर रहो सुजान।
निशानाथ के प्रियवर सहचर।
अंधकार, स्वप्नों के यान।

छाया के सम्बन्ध में :—

ऐ विटपी की व्याकुल प्रेयसी,
विश्व वेदना में तल्लीन।

छायावादी कवि ने प्रकृति के स्थूल रूप को चित्रित नहीं किया वरन् वहां भी उसने गोचर की अपेक्षा एक अभिनव कल्पना और सौंदर्य से संयुक्त मन के अगोचर भावों के आदान प्रदान की छाया के ही दर्शन किये हैं। संभवत: यही कारण है कि महादेवी जी दृष्टि में "छायावाद तत्वतः प्रकृति के बीच जीवन का उद्‌गीथ है" उन्होंने ही आगे छायावाद और रहस्यवाद के दार्शनिक विभेद को सुस्पष्ट करते हुए कहा है कि मनुष्य का प्रकृति से तादात्मय छायावाद है और ब्रह्म से तादात्म्य रहस्यवाद। डा० रामकुमार वर्मा छायावाद और रहस्यवाद के इस दार्शनिक विभेद को नहीं समझ पाये। उन्होंने छायावाद शब्द में निहित 'छाया' शब्द के भीतर से ही उसके दार्शनिक रूप की व्याख्या इस प्रकार की है। परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में, यही छायावाद है।"

आत्मा–परमात्मा, प्रकृति–पुरुष तथा जीव–ब्रह्म की सापेक्षयता के आधार पर विविध दार्शनिक विचारधारायें साहित्य में प्रतिबिंबित हो चुकी थीं किंतु व्यक्ति और प्रकृति के तादात्म्य और अद्वैत को सर्वप्रथम छायावाद में ही अभिव्यक्ति मिली। छायावाद का यही विशिष्ट दार्शनिक आधार है। सामान्य प्रवृत्ति के रूप में यदि छायावाद का विश्लेषण करें तो इसी के अन्तर्गत रहस्य-वादी धारा और रोमांटिक काव्यधारा का भी समावेश कर सकते हैं। जिन कवियों ने आत्मा और परमात्मा की प्रीति के गीत गाये वे रहस्यवाद के प्रवर्तक कहलाये और जिन्होंने नारी—पुरुष के नैसर्गिक आकर्षण के विविध रूप रंगों को पहचाना और उनके बीच के रागात्मक सम्बन्धों को अपने काव्य में अभिव्यक्ति दी वे रोमाँटिक काव्यधारा के प्रवर्तक। वस्तुतः ये दोनों धारायें छायावाद के दार्शनिक धरातल से ही प्रवर्तित हुई हैं।

छायावादी कवि की आदर्शवादी कल्पना और यथार्थ के बीच का व्यवधान दिनोंदिन तीव्र होता गया और परिणामत: छायावादी काव्य में एक प्रकार की क्षयोन्मुख नैराश्य की भावना घर करने लगी। इसी क्षयी और नैराश्य की

प्रवृत्तियों से आक्रांत होकर छायावाद का सूर्य अस्त हो गया और उसकी बहुमूल्य उपलब्धियां विरासत में प्रयोगवाद और प्रगतिवाद को प्राप्त हुई।

इस विषय को समाप्त करने से पूर्व इतना और विचार कर लेना जरूरी है कि छायावाद में सन्निहित दर्शन भारतीय दार्शनिक परम्परा का ही एक रूप था या उसे अन्य यूरोपीय दार्शनिक विचारधाराओं ने प्रभावित अथवा प्रकाशित किया था। कुछ आलोचकों का कथन है कि छायावाद की दार्शनिक भावभूमि पर मध्ययुगीन ईसाई संतों के धार्मिक रहस्यवाद का प्रभाव हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार भगवान उसी को संपूर्ण भाव से ग्रहण करने की चेष्टा करता है जिसका आत्मसमर्पण पूर्ण होता है। इस मतवाद में निहित आध्यात्मिक वेदना तो छायावादी कविता में यत्र-तत्र अवश्य प्रतिबिंबित हुई है पर छायावादी दर्शन ने इस मतवाद से कोई सीधा प्रभाव ग्रहण किया हो सो बात नहीं। मेरे विचार से तो छायावाद रहस्यवादी धारा का उद्‌गम भारतीय दर्शन परम्परा से ही है। सभी दृष्टियों से वह हमारे उपनिषदों के ब्रह्मवाद, कबीर के ज्ञानमार्ग एवं सूफी तथा वैष्णव सन्तों के प्रेममार्ग के अधिक निकट है। जाने अनजाने छायावादी भावधारा अंग्रेजी कविता की रोमाँटिक धारा से अवश्य प्रभावित हुई है। अंग्रेजी कवि स्विनबर्न, ब्राउनिंग, हार्डी, व्हिटमैन ईट्स आदि कवियों ने काव्य से भी छायावादी कवि ने प्रेरणा ग्रहण की है। इन कवियों को कल्पनाप्रधान सौन्दर्यानुभूति, अन्तमुखी चिन्तन और वैयक्तिक दृष्टिकोण से छायावादी कवि का आश्चर्यजनक साम्य पाया जाता है। उदाहरणार्थ छायावाद का प्रकृति-विषयक दर्शन वर्डस्वर्थ के प्रकृति दर्शन के बहुत निकट है। यह प्रभाव हिंदी की छायावादी कविता ने सीधे अंग्रेजी साहित्य से ग्रहण किया अथवा बंगला साहित्य के माध्यम से यह बात विशेष महत्व नहीं रखती। प्रस्तुत विषय की दृष्टि से यह प्रश्न तो गौण ही है।

आत्म-परमात्मा, अवतारवाद, नायक-नायिकाओं के "रति-केलिकलाप" वस्तुजगत् के इतिवृत्तात्मक विवरणों से तो हिन्दी कविता बहुत व्याप्त हो चुकी थी पर व्यक्ति और उसकी भावनाओं का समुचित आदर, अंकन और अभिषेक सर्वप्रथम छायावदी काव्य ने ही किया।

—०—

भरत का नाट्य विधान

शिव चन्द्र नागर

विश्व साहित्य के वे कतिपय ग्रंथ जो कि संचित प्रतिमा के प्रकाश-पुंज बन कर युग-युगों से संसार को आलोक प्रदान करते आये हैं और समय की धूलि जिनके पृष्ठों को धूसरित नहीं कर पायी, वैसे ही महान् ग्रंथों में भरत के नाट्य शास्त्र की गणना की जानी चाहिये। आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व नाट्य-शास्त्र जैसे व्यावहारिक शास्त्र का प्रयोगात्मक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एक महान् आश्चर्य सा प्रतीत होता है पर सत्य यह है कि इस ग्रंथ के रचियता भरत मुनि ने रंगमंच, नाट्य-मंडप, प्रेक्षागृह के निर्माण से लगा कर नाट्य-वस्तु, अभिनय, पात्र और उनकी वेशभूषा आदि नाटक में प्रयुक्त सभी अंशों का अत्यन्त सूक्ष्म विवरण दिया है। इस वृहत् ग्रंथ में निहित विशद विवेचन संभवत: एक से अधिक आचार्यों का सृजन हो और वह सब नाट्यशास्त्र के आदि आचार्य भरत मुनि के नाम पर नाट्य-शास्त्र में संग्रहीत कर दिया गया हो यह मत भी कुछ इतिहासकारों ने व्यक्त किया है। कुछ भी हो चाहे यह एक व्यक्ति का निर्माण हो या अनेक का सामूहिक प्रयत्न पर ऐसा ग्रन्थ संसार के किसी अन्य साहित्य में प्राप्त नहीं।

नाट्य–शास्त्र की निर्मिति का रहस्य बताते हुऐ स्वयं भरत मुनि ने प्रथम अध्याय में कहा कि देवताओं के आग्रह पर स्वयं प्रजापति ने नाट्य–वेद का निर्माण किया। उन्होंने चारों वेदों से पाठ्य, गीत, अभिनय और रस के चार तत्वों को लेकर इस पंचम वेद की रचना की। इसका अध्ययन सभी वर्णों के लिये सुलभ था अतः इसे सर्व वर्णिक वेद भी कहा गया है। नाट्य–प्रयोग किसी वर्ण, जाति, संप्रदाय अथवा वर्ग विशेष की निन्दा–स्तुति का माध्यम न बने उसमें समस्त लोकों के सुख–दुखों का भावपूर्ण चित्रण होना चाहिये। उसके देखने से दुखी और क्लान्त व्यक्तिओं का विनोद हो और वह धर्म, यश, बुद्धि और

जीवन के अभ्युदय का कारण बने। इतना ही नहीं उसमें विश्व की समस्त विद्या कला और शिल्प का सुन्दर समन्वय भी वांछनीय है।

न तत् श्रुतं तत् शिल्पं, न सा विद्या न सा कला।
न सा योगो न तत्कर्म, यत् नाट्ये स्मिन न दृश्यते ।।

नाट्य-शास्त्र के दूसरे अध्याय में रंगमंच, नाट्य मंडप और प्रेक्षागृह निर्माण का विस्तृत विधान है। नाट्य मंडप के शिलान्यास से उसके लिये योग्य भूमि का चुनाव और परीक्षण आवश्यक है। भूमि समतल, कठोर, काली या उजली है। श्वेत वर्ण के बैलों से जोत कर उस भूमि का भली भाँति परिकरण करना चाहिये। अनुराधा, तिष्य अथवा पुष्य क्षादि शुभ नक्षत्रों में सफेद डोरी से उस भूमि को नापा जाये। डोरी कहीं से भी टूटी हुई न हो और नापते समय हाथ से भी न छूटे। शुभ मुहूर्त में ही डोरी की सहायता से उस भूमि का विभाजन दो भागों में किया जाये आधा दर्शकों के लिये छोड़ दिया जाये और आधे को फिर तीन भागों में बाँट कर रंग-पीठ, रंग-शीर्ष और नेपथ्य गृह निर्मित का विधान है। उदाहरणार्थ ६४ हाथ लम्बे और ३२ हाथ चौड़े नाटय-मण्डप की भूमि में से ३२ गुणित ३२ हाथ भूमि दर्शकों के लिये, ३२ गुणित ८ हाथ भूमि मुख्य रंगमंच के लिये, ३२ गुणित ८ हाथ भूमि रगशीर्ष के लिये और ३२ गुणित १६ हाथ भूमि नेपथ्य के लिये हो।

लम्बाई चौड़ाई के प्रमाणानुसार तीन प्रकार के नाटय-मण्डपों का उल्लेख भरत ने किया है:-विप्रकृष्ट १०८ हाथ लम्बा ६४ हाथ चौड़ा, चतुरस्र ६४ हाथ लम्बा और ३२ हाथ चौड़ा एवं त्रन्यस्र ४८ हाथ लम्बा और २४ हाथ चौड़ा।

नाटय-मण्डप का शिलान्यास समारोह मंगलवाद्यों की ध्वनि के बीच फूलों की बन्दरवार से सजे हुए मण्डप में होना चाहिये। उस समारोह में किसी कषायवस्त्रधारी अथवा विकलांग व्यक्ति को न जाने दिया जाये। शिलान्यास के अवसर पर पूर्व दिशा में शुक्ल, दक्षिण में नील, पश्चिम में पीत और उत्तर में रक्त वर्ण के अन्न भित्ती के नीचे दवा देने चाहिये। दूसरे दिन प्रातः काल सूर्योदय के साथ साथ भित्ती निर्माण का कार्य आरम्भ हो।

चारों वर्णों का प्रवेश तो प्रेक्षक गृह में सम्भव था पर उनके बैठने के लिये अलग-अलग गैलरियां थीं इसका संकेत अलग-अलग रंग के स्तम्भों से मिलता है। दस अथवा इससे अधिक मंगलस्तम्भों के निर्माण का विधान है। दर्शकों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए भरत ने स्पष्ट आदेश दिया है कि ये स्तम्भ इस प्रकार बनाये जायें कि दर्शकों की दृष्टि अवरूद्ध न हो। दर्शकों के बैठने की पंक्तियाँ ईंट या लकड़ी की सहायता से क्रमशः एक-एक हाथ ऊँची होती हुई सोपानाकृति अर्थात् सीढ़ी के ढंग की बनाई जाये ताकि मुख्य रंगमंच के सब दृश्यों को भली-भाँति देखा जा सके। आज के आत्याधुनिक रगमंच भी भारत के नाट्य-शास्त्र की इस अति प्राचीन युक्ति का अनुकरण करते हैं।

प्रेक्षक स्थान के बाद क्रमशः रंगपीठ और रंगशीर्ष के निर्माण का विधान है यहां की दीवारें और स्तम्भ आकर्षक चित्रों से विभूषित होने चाहिए। उन दिनों आज की सी रंग-बिरंगी विद्युत-व्यवस्था तो सभव नहीं थी सम्भवतः उसी अभाव की पूर्ति के लिये भारत ने रंगमंच व रंगशीर्ष की भूमि को काली मिट्टी से भरकर उसमें रंग-बिरंगी मणिया एवं आइने जड़ने की योजना का उल्लेख किया है। एकदम काली पृष्ठभूमि पर झिलमिलाती हुई मणियां और चमकते हुए शीशे कैसे लगते होंगे यह तो आप ही जाने। उन दिनों ध्वनि-प्रक्षेपण यंत्र शायद न रहे हों इसीलिये भरत ने रंगपीठ और रंगशीर्ष पर्वत-गुहा के समान बनाये जाने का विधान किया है जिससे नाट्य मंडप में पात्रों की आवाज खूब गूंजे।

रंगपीठ को रंगशीर्ष से अलग करने का साधन था 'यवनिका'। रंगपीठ पर पात्र अभिनय करते थे और रंगशीर्ष में नेपथ्यगृह से आकर आगे के दृश्यों में अभिनय के लिए तैयारी करते थे। आने जाने के लिये दो दरवाजों की योजना का भी विधान है। रंगशीर्ष के पार्श्व में उसके दोनों ओर पर्दा खींचने वालों तथा अन्य व्यवस्था करने वालों के बैठने के लिये दो गैलरियां होनी चाहिए। इन गैलरियों को भरत ने मत्तवारणी की संज्ञा दी है। नेपथ्यगृह सबसे पीछे होना चाहिए, पात्रों के प्रवेश के लिये उसमें एक द्वार हो। दर्शकों के प्रवेश का प्रमुख द्वार नाट्य-मंडप के सामने से होना अनिवार्य माना गया है।

इतना दीर्घकाल बीत जाने पर, आज नाट्य-मंडप की निर्मित के साधनों

में चाहे वहुत सा फेरफार हो गया हो पर रंगमंच की आधारभूत योजना आज भी वैसी ही है जैसी कि आज से १७०० वर्ष पूर्व लिखे हुए भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में विहित है।

भरत ने जहां एक और नाटककार की रंगमंग की परम्पराओं से अवगत करा कर सभी संभाव्य रंगमंचीय समस्याओं पर प्रकाश डाला है वहां दूसरी और वह प्रेक्षक को भी इतना उद्‌बुद्ध और जागरूक बनाना चाहता है कि वह उत्तम अभिनीत नाटक की उपेक्षा न करे। अभिनय ही वास्तव में नाटक का प्राण है। अभिनय की व्याख्या करते हुये भरत कहते हैं —

यौं यं स्वभावो लौकस्य नानावस्थान्तरात्मकः।
सौ ह्यमिनयैर्युक्तो नाट्यमित्यमिधीथायते ।।

अर्थात् लोक की विभिन्न सुख–दुःखात्मक अवस्थाओं का अंगादि के द्वारा अनुकरण ही अभिनय है। प्राचीन ग्रीक नाट्य शास्त्र प्रणेता अरिस्टॉटल की तरह भरत ने भी नाटक को अनुकृतिमूलक काव्य कहा है और दोनों ही अभिनय की प्रधानता को स्वीकार करते हैं। फिर भी भरत ने नाट्य–लेखकों के लिये उतनी कठोर और संकीर्ण सीमायें निर्धारित नहीं की जितनी कि अरिस्टॉटेलियन यूनिटीज में पाई जाती हैं। भरत के लिये नाट्य–लेखक नाटक का आधारभूत ढांचा तैयार करता है किन्तु उसमें प्राणों का संचार कर उसे रसमय रूप प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं निर्देशक और अभिनेता।

अभिनय के दो भेद भरत ने किये हैं : सामान्य और आहार्य। सामान्य अभिनय के तीन भेद हैं :— आँगिक जिसमें हाथ–पैर के संचालन से उत्पन्न मुद्राओं का समावेश, वाचिक जिसमें सम्वाद तथा कथनीयकथन से सम्बन्धित वस्तुओं का अभिनय हो। सात्विक जिसमें परिस्थिति के अनुरूप भावों तथा रसों को प्रदर्शित किया जाय। आहार्य अभिनय का सम्बन्ध नेपथ्य से है और इसके मुख्यतः चार भेद हैं —पुस्त, अलंकार अंगरचना और संजीव। पुस्त में पत्ते, वस्त्र या चमड़े आदि से अनुकरणात्मक रूप बनाने की विधियां बताई गई है। इसके भी तीन उपभेद हैं। संधिम व्याजिम, और चेष्टिमः वास्तव में पुस्त-विधि द्वारा पर्वतों, महलों ओर यानों के अधिक से अधिक स्वाभाविक दृश्य रंग-

मंच पर प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस विधि में यंत्र–प्रयोग का भी विधान है। अलंकार विधि में भरत ने रस, भाव एवं देश के अनुकूल शृंगार और उसके विविध साधनों का विवरण दिया है। केवल माला के ही पाँच प्रकार बताये हैं। आभूषणों में कर्णफूल, हार, नूपुर, मुकुट, कुण्डल, केयूर, अंगूठी का उल्लेख है, जिनक उपयोग नारी और पुरुष पात्रों को देश और जाति के अनुसार करना चाहिये। स्त्री पात्रों की शृंगार–रचना के सम्बन्ध में भरत कहते हैं —

मुग्धानां सुदरीणां च मुक्ताभासित शोभना।
सुरक्ता वापि दन्ताः स्युः पद्म पल्लव रंजना॥

दांतों की काँति कमलपत्र की तरह हो और अधरों की लाल पल्लव के समान। नेत्रों में अंजन, कपोलों पर तिलक लगाने का भी विधान है। गले के आभूषण रत्न और मोतियों के बने होने चाहिये। वक्षस्थल पर झूलने वाले आभूषण मणिग्रथित होने चाहिये। अंगुली में हीरे की अंगूठीं, कटि में काँची अथवा रशना और अंगुष्ठ में तिलक हो। अभिनय में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न न हो अतः कम और चमकीले बनावटी और हल्के आभूषणों का कम संख्या में उपयोग करना ही लाभदायक है।

पात्रों की वेषभूषा एवं अंग रचना देश, भाव, उम्र और कथा–वस्तु के विकास की दृष्टि के अनुकूल होनी चाहिये। इस सम्बन्ध में तो भरत ने यहाँ तक कहा है कि यदि वेषभूषा देशकाल और अवस्था के अनुकूल न हो तो वह वैसे ही हास्य का विषय हो जाती है जैसे वक्षस्थलपर मेखला का बांधना। अंग-रचना का उल्लेख करते हुए विविध रंगों के मिश्रण से कितने प्रकार के रंग बन सकते हैं इसका विवरण भी दिया है। रंग द्वारा रुप-परिवर्तन की विधि को भरत ने 'वर्तना' नाम दिया है। केश रचना अंग–रचना का ही एक भाग है। केशरचना का विस्तृत विवरण देते हुए भरत ने मूंछों के भी चार प्रकार बताये हैं। श्वेत श्याम, विचित्र और रोमश। इनका प्रयोग भी देशकाल और अवस्था के अनुसार होना चाहिए। मन्त्री पुरोहित आदि की सफेद, दुखी तपस्वी, विपत्तिग्रस्त आदि की श्याम और राजा राजकुमार तथा यौवनोन्मत्त पात्रों की मूछें विचित्र होनी चाहिए। पात्रों की केश रचना के तीन प्रकार भरत ने बताए हैं :— शुद्ध विचित्र और मलिन। मंगलमय अवसरों पर पात्रों

का वेश शुद्ध एवं शुक्ल होना चाहिए। उन्मत्त और व्यसनाहत पुरुषों का मलिन मुनियों का वल्कल अथवा चर्मयुक्त हो। अन्तःपुर के परिवार गण काषाय वस्त्र अथवा झूला पहनें। राजाओं के सिर पर मुकुट, सेनापति और युवराज के सिर आधा मुकुट, चारण व द्वारपाल आदि के सिर पर पगड़ी होनी चाहिए। मुनियों की जटायें लम्बी और लटकी हुई हो तथा बौद्ध, श्रमणक एवं सन्यासियों का सिर मुण्डा हुआ होना चाहिए।

नारी पात्रों की वेष-रचना का विवरण देते हुए भरत लिखते हैं :— वन वालाओं का शृंगार वन के वातावरण के अनुकूल हो। वे बालों की एक वेणी बनायें और भूषण धारण न करें। अवन्ति देश की तरुणियों के केश घुंघराले हों। गौड़ देश की युवतियां एक वेणी और आभीर युवतियाँ दो वेणी धारण करें। उनका सिर नीले रंग की साड़ी से ढँका होना चाहिये। पूर्व और उत्तर भारत प्रदेश के स्त्रीपात्रों के केश कगुच्छोसमान बाँधकर ऊपर उठा हुआ जूड़ा धारण करें। वेश्यापात्रों का शृंगार खूब भड़कदार होना चाहिए। विरहिणी और विपक्ष स्त्रियों की वेशभूषा सादी और मलिन हो। वे आभूषण बिल्कुल धारण न करें।

आहार्य अभिनय के चौथे प्रकार संजीव की बड़ी ही व्यापक व्याख्या भरत ने अपने नाट्य–शास्त्र में की है। ममुष्य के अतिरिक्त अपद्, द्विपद, चतुष्पद प्राणी को रंगमंच पर प्रवेशविधि का शास्त्रीय नाम संजीव हैं। केवल सर्प को छोड़कर किसी भी पशु, पक्षी आदि का प्रवेश वर्जित नहीं। इतना ही नहीं भरत ने शिल्प कला द्वारा निर्मित सभी वस्तुओं के उपयोग की स्वतन्त्रता दी है पर रंगमंच की अपनी सीमायें हैं और संसार की किसी भी बड़ी से बड़ी वस्तु की अवतारणा सम्भव नहीं। अतः केवल उसके अनुकरण एवं संकेत मात्र से ही दर्शकों के मन में रसोद्रेक करने की अरे ही रंगमंच-निर्देशक का लक्ष्य रहना चाहिए। रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया खण्डित न हो इसीलिये भरत ने रंगमंच पर शास्त्रों द्वारा प्रहार वर्जित बताया है केवल प्रहार का संकेतमात्र ही काफी है।

नाट्य–मंडप निर्मित और अभिनय के सर्वांगीण सूक्ष्म एवं विशद विवेचन के अतिरिक्त नाट्य–शास्त्र की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है भारतीय समीक्षा–शास्त्र का रससिद्धांत। सर्वप्रथम भरत ने नाट्य द्वारा रस–निष्पत्ति की प्रक्रिया

का विवेचन किया और इस सिलसिले में मानवीय संवेगों, प्रवृत्तियों, अनुभूतियों, भावों, विभावों एवं संचारियों का मार्मिक विश्लेषण संभवत: सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक आधार पर उपस्थित किया गया। लोक-हृदय में रस की निष्पत्ति ही भरत ने नाटकों का सर्वोपरि उद्देश्य माना हैं। डॉ० कीथ ने अपनी पुस्तक संस्कृत ड्रामा में इस विषय पर अपना मत व्यक्त करते हुये लिखा है कि भारतीय नाट्यशास्त्र का सर्वाधिक मौलिक और रोचक प्रसंग रस के क्रमिक विकास का निरूपण है।

रस के क्रमिक विकास का निरूपण नाटक की कथावस्तु के क्रमिक विकास से सम्बद्ध है अत: भरत ने वस्तु-निर्वाह के तरीकों पर भी विशेष जोर दिया है किसी भी उद्देश्य की इच्छा का जन्म, दूसरी अवस्था प्रयत्न, तीसरी आशा, चौथी नियताप्ति और अन्तिम अवस्था फलप्राप्ति। इसी प्रकार वस्तु की कुछ वाह्य अवस्थायें भी बताई गई हैं — प्रथम अवस्था है बीज, जब कार्य आरम्भ होता है। दूसरी है बिन्दु यानि कथा का संप्रसारण फैलाव तीसरी है पताका यानि मूल कथानक का सहकारी कथानक। चौथी है प्रकरी जो अवातर किंतु सौद्देश छोटे छोटे—छोटे कथानकों से मूलकथा को पुष्ट करे और पांचवीं अवस्था है कार्य। वस्तु और कार्य की इन पाँच-पांच अवस्थाओं के समन्वय का कार्य संधियां करती हैं। नाटकों के कथानक में वे सजीव और मार्मिकमोड़ जहां दर्शक बरबस 'वाह वाह' करता उठता है इन्हीं संधियों के परिणाम होते हैं।

भारतीय दर्शन के अनुसार जीवन यात्रा का मुख्य उद्देश्य शाश्वत आनंद की प्राप्ति है। भारतीय दर्शन की इसी चिंतन धारा को भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र का आधार बनाया। दर्शक के मानस पर नाटक का अंतिम प्रभाव शान्ति और आनन्द का संचारी हो वह उद्विग्न अवस्था में प्रक्षुब्ध मन लिये हुए घर न लौटे। जीवन के उदात्त नैतिक मूल्यों के प्रति उसकी आस्था दिन—दिन दृढ़ होती चले वह डगमगाये नहीं, इसी उद्देश्य से भरत मुनि ने दु:खांत नाटक का निषेध किया है पर कथानक के क्रमिक विकास के अंतर्गत दु:ख, वेदना, अन्तर्व्यथा, क्लेश एवं मार्मिक उत्पीड़न की अभिव्यक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं। उसका चरम लक्ष्य है – 'रसोन्मेष' 'नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थं प्रवर्तते' रस के बिना कोई रस नहीं। कोई अर्थ नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि भरत का नाट्य-शास्त्र सच्चे अर्थों में एक वृहत् ललित-कला-कोष है।

सातवे दशक के हिन्दी उपन्यास

शिवचन्द्र नागर

प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक रैल्फ फाक्स ने अपनी पुस्तक Novel & The People में उपन्यास को व्यक्ति के संघर्ष का महा काव्य कहा है। उसने आगे एक स्थान पर यह भी कहा है कि उपन्यास जीवन के सम्बन्ध में कोई धारणा व्यक्त नहीं करता उसकी तस्वीर पेश करता है। हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों में यही संघर्ष रूपायित हो रहा है। यथार्थ के विभिन्न स्तरों पर समाज से तथा उसके चारों ओर की परिस्थितियों से व्यक्ति का संघर्ष। वहिर्जगत की अपेक्षा अन्तर्जगत का चित्रण तभा चेतन जगत की अपेक्षा उपचेतन एवं अचेतन मन का विश्लेषण। 'डूबते मस्तूल' में एक स्थान पर रंजना अकलंक से कहती है कि प्रत्येक क्षण का सत्य ही सत्य है और पूरा जीवन इन छोटे सम्पूर्ण खण्ड-सत्यों का यौगिक-विस्तार और क्या ? आज का उपन्यासकार इन्हीं खण्ड-सत्यों को अपनी रचनाओं में उद्घाटित करना चाहता है। हिन्दी उपन्यास की विकास-यात्रा का सातवां दशक अर्थात् १९६० से १९७० तक का कालखण्ड इसलिये महत्वपूर्ण है कि इस दशक में इन खण्ड-सत्यों के इर्द-गिर्द घूमने वाले नये और पुराने लेखकों के अनेक लघु उद्योग उपन्यास प्रकाश में आये। इस दशक की विशेषता यह है कि इस अवधि में प्रकाशित होने वाले बड़े उपन्यासों की संख्या बहुत कम और लघु उपन्यासों की संख्या बहुत अधिक। अत: इस दशक को यदि लघु उपन्यासों का दशक कहा जाये तो उचित ही होगा।

वैचारिक दृष्टि से इस दशक का उपन्यासकार मार्क्स की भौतिकवादी विचारधारा, फ्रायड के मनोविश्लेषण विषयक सिद्धांत, तथा सार्त्र के अस्तित्व वादी चिन्तन से प्रभावित है। भाषा, शैली और वस्तु की दृष्टि से भी इस दशक के उपन्यासकार ने नये क्षितिजों का स्पर्श किया है।

इस दशक के प्रमुख उपन्यासकारों में पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी दोनों का ही समावेश है। इस दशक में पुरानी पीढ़ी के उपन्यासकारों में से जिनकी और जो रचनायें प्रकाशित हुई उनमें जैनेन्द्र कुमार का 'मुक्तिबोध', इलाचन्द्र जोशी का ऋतुचक्र, अमृतलाल नागर का अमृत और विष, हजारी

प्रसाद द्विवेदी का चारुचन्द्र-लेख, भगवती चरण वर्मा के 'सामर्थ्य और सीमा', 'थके पांव', 'रेखा' तथा 'सीधी सच्चों बातें', भगवती प्रसाद वाजपेयी का 'सपना बिक गया', आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'गोली' तथा रागेय राघव के 'धरती मेरा घर' 'प्रोफेसर' एवं 'डाक्टर' तथा उपेन्द्रनाथ अश्क का 'शहर में घूमता आइना' प्रमुख हैं।

जैनेन्द्र जी के उपन्यास 'मुक्तिबोध' में केवल चार दिन की कहानी है। पर ये चारों दिन एक मिनिस्टर के हैं। वह राजनैनिक प्रवृत्ति तथा राजनैतिक संन्यास के दो परस्पर विरोधी विकल्पों के बीच झूलता रहता है चिन्तन करता रहता है और यही चिन्तन मुक्तिबोध का चिन्तन है जैनेन्द्र जी का चिन्तन है। पत्नी और प्रेमिका के बीच मिनिस्टर सहाय यह त्रिकोण भी इस उपन्यास में है। जैनेन्द्र जी पत्नी और प्रेयसी दोनों को एक दूसरे के पूरक मानते हैं। मन्त्री पद से मुक्त होने पर सहाय के व्यक्तितत्व का बिखराव पर चार दिन बाद उसे फिर मन्त्रीपद प्राप्त हो जाता है। सारे उपन्यास में चिन्तन की शुष्कता है और समी पात्र चिन्तन के धागे से संचालित कठपुतलियां सी लगते हैं।

'ऋतुचक्र' भी इलाचन्द्र जी जोशी का चिन्तन प्रधान उपन्यास है। इस उपन्यास में जोशी जी ने अस्तित्ववादी चिंतन के विरुद्ध मानवतावादी चिंतन को स्थापित करने का प्रयत्न किया है। अस्तित्ववाद के विरुद्ध उन्होंने इस उपन्यास के प्रमुख पात्र दादा के मुख से यत्र-तत्र लम्बे लम्बे वक्तव्य दिलवाये हैं जो कहीं कहीं बड़े बोझिल भी हो गये हैं। एक स्थान पर वह सीधे ही कहता है कि :—

वे लोग जो अस्तित्व बोध से संत्रस्त हैं जो संत्रास उन्हें दिखाई देता है वह उनकी मंद दृष्टि और जीवन को एक विशेष कोण से देखने के कारण उपजा हुआ भ्रम है। जैनेन्द्र जी के 'मुक्तिबोध' की तरह ऐसा लगता है कि जैसे इस उपन्यास के पात्रों का संयोजन भी जोशी जी ने अपने चिंतन को उद्घाटित करने के लिये हो किया हो। ये दोनों चिंतन प्रधान उपन्यास हैं।

अमृतलाल नागर का 'अमृत और विष' तरुण पीढ़ी के वाह्य और आंतरिक संघर्ष को संयुक्त रूप में चित्रित करने वाला उपन्यास है। सम्भवत: यह पहला उपन्यास है जिसमें तरुणों की शक्ति को साहित्यिक स्तर पर स्वीकार किया गया

है। तरुण वर्ग की शक्ति दिग्भ्रमित है उसे सही दिशा चाहिये। यह है इस उपन्यास का प्रमुख स्वर। पीढ़ियों के अन्तरद्वन्द्व को भी नागर जी ने इस उपन्यास में वाणी दी है। वैचारिक द्वन्द्व और आत्म संघर्ष की अभिव्यक्ति भी इस उपन्यास में यत्र-तत्र हुई है। अन्तर्मन की सूक्ष्म गहराइयों में चाहे नागर जी की पैठ कम हो पर उनके सभी पात्र जीवन की ऊष्मा से ओतप्रोत एवं सजीव लगते हैं। कहानी कहने की नागर जी की अपनी कला है। औपन्यासिक रोचकता के वादशाह हैं। उनकी कहावतों और मुहावरेदार भाषा सहज प्रवाहित हुई लगती है। शिल्प की दृष्टि से नागर जी ने इस उपन्यास में नया ही प्रयोग किया है और वह है उपन्यास के भीतर उपन्यास। इस उपन्यास का नायक अरविन्द नागर स्वयं शंकर जी ही प्रतीत होते हैं। अतः आत्मकथात्मक शैली में लिखे हुये इस उपन्यास में अनुभूतियों की गहराई और अधिक सशक्त रूप में उभरकर आई है। पहले उपन्यास के अन्त में उपसंहार के रूप में अरविन्द शंकर का चिंतन स्वयं लेखक का चिंतन है और उससे नागर जी की कला, साहित्य और जीवन सम्बन्धी मान्यताओं का पता चलता है।

'वाणभट्ट की आत्मकथा' के बाद हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'चारु चन्द्रलेख' उपन्यास १९६३ में प्रकाशित हुआ। द्विवेदी जी ने इस उपन्यास के द्वारा इस इस सत्य की स्थापना की है कि देश की रक्षा केवल राजा नहीं कर सकता। सामान्य प्रजा को जगाना आवश्यक है। देश की जय-पराजय को प्रजा राजा की जय-पराजय समझे। इस उपन्यास में यह सत्य भी उभर कर आया है कि व्यक्तिगत साधना कितनी ही बड़ी क्यों न हो, समूह के किस काम की ? जन-जीवन से कटकर कोई भी देश या समाज न तो पनप सकता है और न कायम रह सकता है। इस युगवोध को उद्घाटित करने वाला यह उपन्यास यथार्थवादी तो है पर उनके पहले उपन्यास की तरह सुगठित उपन्यास नहीं है।

इस दशक में भगवतीचरण वर्मा के 'सामर्थ्य और सीमा १९६२ 'थके पांव' १९६३ 'रेखा' १९६४ तथा 'सीधी सच्ची वातें' १९६८ में आये। इन तीनों उपन्यासों में लेखक की सामाजिक और राजनैतिक चेतना को अभिव्यक्ति मिली है। १९६१ में प्रकाशित आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास 'गोली' में देश

के सैकड़ों रजवाड़ों में जीवन यापन करने वाले दास–दासियों की मूक पीड़ा मुखरित हुई है । रांगेय राघव के उपन्यास 'धरती मेरा घर' में लोहारों की एक जाति जो अपने पुरखों की प्रतिज्ञा को निवाहने के लिए आज भी कहीं अपना घर वनाकर नहीं रहती और सारी धरती को अपना घर समझती हैं उनका गौरवपूर्ण चित्रण किया है । 'प्रोफेसर' तथा 'डाक्टर' उपन्यासों में इन्होंने जीवन की विषम परिस्थितियों में व्यक्ति के अतर्द्वंद्वों का मार्मिक चित्रण किया है ।

१६६३ में प्रकाशित 'शहर में घूमता आईना' उपन्यास में उपेद्रनाथ अश्क अपनी पुरानी चोखट से बाहर नहीं आ पाये हैं । इस उपन्यास का नायक चेतन जालंधर शहर में घूमने वाला आईना है । इस आईने में इस शहर का बारह घंटे का जीवन प्रतिबिम्बित हुआ है । डा० इन्द्रनाथ मदान ने अपनी पुस्तक आज के हिन्दी उपन्यास में लिखा है कि मुझे लगता है कि अश्क ने यह आईना अपने हाथ में पकड़े पकड़ा हुआ है और यह आईना 'गिरती दीवारों में' जितना साफ था उतना ही वह इस उपन्यास में मैंला हो गया है ।

आंचलिक उपन्यासों के सृजन की दृष्टि से यह दशक विशेष महत्व नहीं रखता फिर भी आंचलिक उपन्यासों के जनक फणीश्वरनाथ रेणु के १६६५ और १६६६ में क्रमशः 'जुलूस' और 'कितने चौराहे' उपन्यास प्रकाशित हुये । आंचलिक परिवेश की दृष्टि से ये दोनों ही सफल लघु उपन्यास हैं । इनके अतिरिक्त भी रामदरश मिश्र का 'पानी के प्राचीर' और राजेन्द्र अवस्थी का 'जंगल के फूल' उल्लेखनीय आंचलिक उपन्यास है। १६६६ में उर्दू लेखक मासूम रजा राही का पहला हिन्दी उपन्यास' 'आधा गांव' प्रकाशित हुआ । यह एक सफल आँचलिक उपन्यास हैं । शिया मुसलमानों के जीवन और परिवेश पर लिखा गया सबसे पहला उपन्यास । इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है -- संयमहीनता । इसके सभी पात्र बिना लगाम के हैं और उनकी अभिव्यक्ति सहज सटीक और दोटूक है गलियों की हद तक ।

इस दशक में प्रकाशित अस्तित्ववादी विचारधारा का चित्रण करने वाले उपन्यासों में अज्ञेय का 'अपने अपने अजनबी' सुरेश सिन्हा का 'एक और अजनबी' तथा महिला लेखिका उषा प्रियंवदा का 'रुकोगी नही राधिका' सभी दृष्टियों से सफल एवं उल्लेखनीय उपन्यास है । अज्ञेय जी ने बर्फ से ढके

हुए घर में मृत्यु के भय की छाया में जीवित एक वृद्ध महिला सेलमा और दूसरी युवती यौके के अंतरमन की हलचल का गहराई से मनोवैज्ञानिक एवं अस्तित्ववादी विश्लेषण प्रस्तुत किया है। अतीत की स्मृति और भविष्य की चिन्ता से कटकर प्रत्येक क्षण का बेबाकी के साथ उपभोग करना ही अस्तित्ववाद है। डॉ० महावीरमल जी लोढ़ा के शब्दों में इस उपन्यास की सेलमा आस्तिक अस्तित्ववादी तथा यौके नास्तिक अस्तित्ववादी विचारधारा की प्रतीक हैं।

'रुकोगी नहीं राधिका' में यही दर्शन इस उपन्यास की नायिका राधिका के इन शब्दों में व्यक्त हुआ है। वह स्वतन्त्र व्यक्तित्व वाली लड़की अपने अस्तित्व का बोध कराते हुए अपने पिता से कहती है " जो आप चाहते हैं वही हमेशा क्यों हो ? क्या मेरी इच्छा कुछ भी नहीं हैं ? मैं आपकी बेटी हूं यह ठीक है पर अब मैं बड़ी हो चुकी हूँ और अब मैं जो चाहूंगी वही करूँगी। एक दूसरे स्थान पर राधिका का प्रेमी राधिका से कहता है — "तुम पुरुष में प्रेमी या पति नहीं ढूँढती पिता ढूंढती हो तुम जीवन में लंगर चाहती हो उसे पूरी तरह स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हो।'

सुरेश सिन्हा के 'एक और अजनबी' में यही दर्शन इस उपन्यास की नायिका मीनल के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त हुआ है — "आपका यह समाज कहता है तू अकेली है, निरीह असहाय है हम तुझे जीने नहीं देंगे। मैं कहती हूं तुझमें इतनी सामर्थ्य नहीं है। मैं जीना चाहूंगी तो जी ही लूँगी। तू मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। समाज कहता है अच्छा देखेंगे। मैंने बस उस चुनौती को स्वीकारा है।

१९६४ में प्रकाशित निर्मल वर्मा के उपन्यास 'वे दिन' को भी मैं इसी विचारधारा का उपन्यास मानता हूँ क्योंकि इस उपन्यास भी लेखक ने इस उपन्यास की नायिका रायना के माध्यम ही अस्तित्वबोध की समस्या को ही उद्घाटित किया है।

मार्क्सवादी बिचारधारा के उपन्यासकार यशपाल और नागार्जुन ने भी इस दशक के विकास में अपना योगदान दिया है। १९६१ में नागार्जुन का 'हीरक जयन्ती' और १९६३ में उग्रतारा प्रकाशित हुआ। दोनों ही उपन्यासों

मे सटीक व्यंग्य के माध्यम से मार्क्सवादी दृष्टिकोण प्रस्फुटित हुआ है । यशपाल का 'बारह घंटे' इसीलिये इस दशक का महत्वपूर्ण उपन्यास है क्योंकि इस उपन्यासमें उन्होंने राजनीति और क्रांति के मार्क्सवादी ढाँचे से हटकर शायद पहली बार प्रेम–कथा का निरुपण शुद्ध मानवतावादी दृष्टिकोण से किया है ।

इस दशक के बहुचर्चित उपन्यासों में राजेन्द्र यादव का 'अनदेखे अनजान पुल' शिल्प एवं–कथ्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इस उपन्यास में यादव जी ने एक रुपहीना युवती के अन्तर्मन की हीनगृथि का मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है ।

इसी दशक में कमलेश्वर के 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' लौटे हुए मुसाफिर 'तीसरा आदमी' और 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' ये चार उपन्यास प्रकाश में आये । इन उपन्यासों में लेखक ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ नए सामाजिक मूल्यों को निरूपित करते हुए युगबोध और युग–सत्य को उद्घाटित किया है ।

मोहन राकेश का अतिचर्चित उपन्यास 'अंधेरे बन्द कमरे' में इसी दशक की देन है । इसमें लेखक उच्च मध्यम वर्ग के जीवन को उसकी सम्पूर्ण विसंगतियों के साथ प्रस्तुत करना चाहता है। नरेश मेहता के 'धूमकेतु : एक श्रुति 'यह पथ–वधु था' तथा 'नदी यशस्वी है' ये तीनों उपन्यास भी इसी दशक मेंप्रकाशित हुए हैं । धूमकेतू : एक श्रुति तथा 'नदी यशस्वी हैं' स्वयं लेखक के जीवन पर आधारित उपन्यास प्रतीत होते हैं । पहले में लेखक का बचपन और बचपन की जिज्ञासापूर्ण अनुभूतियों का मार्मिक चित्रण है तथा दूसरे में किशोर जीवन की संवेदनाओं को अभिव्यक्ति मिली है। दोनों उपन्यास विषय और शिल्पकी दृष्टि से नए प्रयोग हैं । इनके तीसरे उपन्यास 'यह पथ बन्धु था' में एक मध्यम वर्ग के ईमानदार नारी और पुरुष के आत्म संघर्ष की पीड़ा तथा उनके टूटते हुए व्यक्तित्वों का चित्रण है । अन्त में लेखक इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जीवन में अनुभव ही एक मात्र साथी होता है — सुख का दुख का । बंधु होता है ।

इसी दशक की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं — सुरेश सिन्हा का "सुबह अंधेरे पथ पर" और श्री लाल शुक्ल का 'राग दरबारी' । सुरेश सिन्हा के उपन्यास को डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने मानवीय विवशताओं की बृहद गाथा

बताया है । गत तीस वर्षों में निम्न मध्यम वर्ग जो देश और समाज के उच्च आदर्शों को अपने कंधे पर ढोता आया है बड़ी तेजी के साथ टूट रहा है । उसके सामने दो ही विकल्प हैं । या तो परिस्थितियों पर मात करे या उनके सामने टूट जाय । इन दो विकल्पों के बीच का तीव्र संघर्ष ही इस उपन्यास की आत्मा है । 'राग दरबारी समाज के हर क्षेत्र में नैतिक मूल्यों के पतन और विघटन की कहानी है । इस देश के गांवों की जिन्दगी जो पिछले २० वर्षों की प्रगति और विकास के नारों के बावजूद निहित स्वार्थों और अनेक अवाँछनीय तत्वों आघातों के बीच घिसट रही है । यह उपन्यास उसी जिन्दगी का दस्तावेज है । उपन्यासकार ने भ्रष्टाचार समाज के घिनौने यथार्थ पर अपनी व्यंग्य शैली द्वारा करारी चोट की है उदाहरणार्थ एक स्थान पर भाषा की सहजता और चुटीलापन देखिये - रुप्पन बाबू ने अपनी डंडामार शैली में जवाब दिया था । प्रिंसिपल हरामी है । दिनरात गुटबन्दी की खिचखिच लगाए रहता है । खन्ना मास्टर जी उल्लू के पठ्ठे हैं पर वे हरामी नहीं है ।

वेश्या-जीवन की समस्या का मार्मिक चित्रण करने वाला लक्ष्मीनारायण लाल का उपन्यास "बड़ी चम्पा छोटी चम्पा" रमेश बख्शी के उपन्यास 'एक घिसा हुआ चेहरा' तथा "अठ्ठारह सूरज के पौधे" जिनमें नए जीवन मूल्यों के बदलते आयाम रूपायित हुए हैं इसी दशक की देन हैं । कान्ता सिन्हा के उपन्यास अतृप्ता में एक युवती कुमारी की घुटन और कुंठाओं का चित्रण है तथा मेहरूनिसा परवेज के उपन्यास 'आंखों की दहलीज' में एक कभी माँ न बन सकने वाली नारी की व्यथा और विद्रोह के स्वर उभरकर आये हैं । शैलेश मटियानी के उपन्यास 'चिट्ठीरसैन' तथा 'चौथी मुठ्ठी' में उपेक्षित नारियों के प्रति उदारतावादी दृष्टिकोण अपनाने के मूल्य की प्रस्थापना की है ।

इस दशक में कुछ चौंका देने वाले उपन्यास भी प्रकाशित हुए। इनमें प्रमुख हैं । राजकमल चौधरी के उपन्यास 'नदी बहती थी' २-'शहर था शहर नहीं था' ३- 'मछली मरी हुई' । लेखक किसी भी प्रकार की प्रतिबद्धता नहीं स्वीकारता । एक स्थान पर वह एक पात्र के माध्यम से कहता है कि — पहले अंधेरा था फिर अंधेरा होगा । अभी अगर रोशनी की एक हल्की सी किरन बाकी है तो उसे जी लो । यही दर्शन है जो राजकमल के सभी उपन्यासों में व्याप्त है 'मछली

मरी हुई' में एक पूरे अध्याय में समलैंगिकता की चर्चा है। समलैंगिक जीवन को चित्रित करने वाला हिन्दी में यह एक मात्र उपन्यास हैं।

कृष्णा सोबती का लघु उपन्यास 'मित्रो मरजानी' और युवा लेखक अमरकान्त का 'पराई डाल का पंछी' भी विवादास्पद और चौंका देने वाला उपन्यास समझे गए हैं। मित्रो मरजानी में हरवन्सलाल की पत्नी मित्रो एक अति कामुक स्त्री है। एक स्थान पर वह अपनी जिठानी से कहती है– 'तुम्हारा देवर मेरा रोग नहीं पहचानता। बहुत हुआ हफ्ते पखवारे और मेरी इस देह में प्यास हैं कि मछली सी तड़पती हूं पराई डाल के पन्छी में इसके विपरीत एक अति कामुक युवक के चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कृष्णा जी ने एक असाधारण नारी चरित्र की निर्मिति की है क्योंकि कामुक होने के साथ–साथ वह अपने पति को पूर्णतया समर्पित भी है। इस दशक की महिला उपन्यासकारों में सर्वाधिक लोकप्रिय लेखिका शिवानी है। इस दशक में उनके 'कृष्णकली' भैरवी तथा चौदह फेरे ये तीन उपन्यास प्रकाश में आये हैं। इनके उपन्यासों में आभिजात्य वर्ग की शालीनता तथा रोमाँचकारी भावुकता के दर्शन होते हैं तथा पर्वतीय परिवेश का चित्रण इनका अनूठा होता है। सभी दृष्टियों से इतना समृद्ध दशक शायद ही कभी उपन्यास साहित्य में आए।

—०—

वर्षा ऋतु और कवि

शिवचन्द्र नागर

मनुष्य के हृदय की मूल वृत्ति का प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। प्रतिपल निसर्ग के बदलते चित्रों में उसने अपने मनकी भावनाओंको आरोपित किया है और उसके आंचल की सुखद छाया के तले अपने सुख-दुख, आनंद-विषाद एवं राग–विराग के सपने भी संजोये हैं। रंग और ध्वनि के प्रति मनुष्य का सहज और जन्मजात आकर्षण पाया जाता है। जब भूरे कजरारे मेघ उमड़ते हैं, गरजते हैं, बरसते हैं तब किसका मन उनकी ओर आकर्षित नहीं होता। धरती के महास्वप्न सी चारों ओर छाई हुई हरियाली, रंग-बिरंगे फूलों का उमड़ा हुआ सागर, बादलों के बीच खिलती हुई उषा और मिटती हुई संध्या का इन्द्र-धनुषी अवगुंठन किसे नहीं भाता। कवि तो सौंदर्य की ऐसी ही रेखाओं, रंगों और ध्वनियों का चितेरा रहा है और सम्भवतः यह कारण है कि प्रकृति नटी के इसी रूप ने उसे सर्वाधिक आत्मविभोर किया है। डुबाया है। वर्षा का संबंध कृषि से है, लोक जीवन से है, अतः वर्षा के बदलते चित्र गायक और कवि की सहज भावनाओं के साथ घुल–मिल गये हैं।

आदि कवि बाल्मीकि के काव्य में, नये गिरे जल का शीघ्रता से बहना, भौंरों का बोलना, लोगों का भौंरों के समान काले पके जामुनों का खाना, पके आमों का स्वयं टूट कर गिरना आदि वर्षा के अनेक चित्र प्रस्तुत हुए हैं। कालीदास का मेघदूत तो वर्षाकालीन चित्रों का एक अनुपम चित्राधार ही है। मंद–मंद पवन का बहना. पपीहे का 'पी–पी' पुकारना, पंक्तिबद्ध बगुलों का उड़ना, आदि अनेक चित्रों के साथ साथ कवि अपने सुख-दुख को भी व्यंजित करता है। अपनी प्रिया से बिछुड़े हुए शापित यक्ष का संदेश ले जाने के लिये कवि ने वर्षा के पहले बादलों को ही चुना है। कालिदास के 'ऋतु–संहार' में वर्षा के आगमन का एक चित्र देखिये। कवि कहता है कि 'देखो प्रिय, जल की धाराओं से भरे हुए बादलों के मतवाले हाथी पर चढ़ कर बिजलियों की

पताकाओं को फहराता हुआ और गर्जन के नगाड़े बजाता हुआ यह पावसराज आ पहुंचा है।

संस्कृत काव्य तो सजीव प्रकृति चित्रण है समृद्ध है ही पर हिन्दी काव्य परम्परा में भी वर्षा का सदैव विशिष्ट स्थान रहा है फिर चाहे वह वीर गाथा काल हो या अधुनिक काल।

संक्षेप में यदि हिन्दी कविता में वर्षा-चित्रण पर दृष्टिपात करें तो चन्द वरदाई से लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक वर्षा का चित्रण मुख्यत: उद्दीपन अथवा अलंकार रूप में ही हुआ है। वर्षा के स्वतन्त्र चित्र केवल कहीं कहीं मिलते हैं।

जायसी के काव्य में वर्षा मुख्यत: लौकिक शृंगार व अलौकिक प्रेम दोनों ही रूपों में प्रस्तुत हुई है। विरह में नागमती के लिये वर्षा कितनी पीड़ादायिनी है उसका चित्रण :–

खड़ग बीजु चमकै चहुं ओरा, बुंद-बान बरसहिं घनघोरा।

वही वर्षा मिलन में कितनी आनंद दायिनी है :—

ऋतु पावस बरसै पिउ धावा, सावन-भादों अधिक सोहावा
पदमावति चाहति ऋतु पाई, गगन सोहावन भूमि सोहाई
सीतल बुंद उच चौपारा, हरि सब देखाई संसारा।

संत और भक्त कवियों ने भी अपने काव्य में वर्षा के अनेक चित्र प्रस्तुत किये हैं। गीतावली में प्रस्तुत वर्षा का एक चित्र देखिये :—

बीरबहूटी बिराजतीं दादुर धुनि चहुं ओर,
मधुर गरजि घन बरखहि, सुनि सुनि बोलत मोर,
बोलत चातक मोर, कोकिल कीर परावत घने,
खग विपुल पाले बालकनि कूजत उडात सुहावने।

रामभक्त तुलसीदास को चित्रकूट हमेशा ही अच्छा लगता है पर वर्षा ऋतु में उसकी शोभा कुछ अलग ही है—

सब दिन चित्रकूट नीको लागत,
वर्षा ऋतु प्रवेश विशेष गिरि देखत, मन अनुरागत।

महात्मा तुलसीदास ने वर्षा वर्णन के माध्यम से नैतिक तथ्यों की व्यंजना की की है जैसे :—

घन घमण्ड नभ गरजत घोरा, प्रियाहीन डरपत मन मोरा
बरषहिं जलद भूमि नियराये, जथा नवहिं बुध विद्या पाये
बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे, खल के वचन सहहिं जैसे
दामिनी दमक रही घन माँहि, खल की प्रीति जथा थिर नाहिं।

कृष्ण भक्त सूरदास श्यामल बादलों में अपने प्रिय घनश्याम की सूरत निहारते हैं तो प्रेम-दीवानी मीरा घने बादलों के अंधेरे में बिजली की चमक से चौंक कर डर जाती है। :-

मतवारो बादल आयो रे!
दादुर मोर पपीहा बोले, कोमल शब्द सुनायो रे,
कारी अंधियारी बिजुली चमके विरहिन जाति डरपायो रे।

प्रिय को घर आया हुआ जान कर वर्षा में उसे छोड़ कर न जाने को प्यार भरी मनुहार की कितनी सरस अभिव्यक्ति मीरा के इस पद में हुई है :—

मेहा बरसवो करे रे, आज तो रमियो मेरे घरे रे।
नान्ही नान्ही बूंद मेघ घन बरसे, सूखे सरवर भरे रे।
बहुत दिनों से प्रीतम पायो बिछुरन को मोहिं डरैं रे।

आचार्य केशव का वर्षा-वर्णन अलंकारों के बोझ से दब गया है। एक स्थान पर वर्षा को कालिका का रूपक देकर तो उन्होंने वर्षा के सहज सौंदर्य का चित्र ही विकृत कर दिया है। बिहारी, देव, सेनापति, ग्वाल, मतिराम, रसखान आदि रीतिकालीन कवियों के काव्य में भी वर्षा के अनेक मनोहारी चित्र व्यंजित हुए हैं पर ये चित्र प्रायः परंपरागत रूढ़ ढंग के ही हैं। इन कवियों के वर्षा-वर्णनों में न तो नव-नवीन कल्पनायें ही पाई जाती हैं और मौलिक सौंदर्य व्यंजना ही। इन्होंने तो वर्षा के विविध रूपों के चित्रणों द्वारा नायक-नायिकाओं मनोभावों को उद्दीप्त करने का कार्य अवश्य किया है। वियोग में बारहमासा और सयोग में षट्ऋतु वर्णन इस युग में एक प्रथा सी बन गई थी। फिर भी सेनापति और घनानन्द प्रकृति-सौंदर्य के प्रति बड़े सजग हैं। उनका वर्षा वर्णन रंग एवं ध्वनियों से परिपूर्ण एवं उनके सूक्ष्म निरीक्षण का परिचायक है :- प्रिय की प्रतीक्षा में सावन की रातों का एक चित्र देखिये :—

घोर जलधर की सुनत धुनि धरकी है,
दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियां।
बीती औध आवन की लाल मनभावन की
डग भई बावन की. सावन की रतियां ।

भूषण के वीर काव्य में भी वर्षा–वर्णन को स्थान मिला है। एक स्थान पर कवि भूषण ने वर्षा की नैसर्गिक छटा और शिवाजी महाराज के सैन्यबल का अनूठा चित्रण किया है। मतिराम की सूक्ष्म दृष्टि पहली वर्षा के उपरांत मिट्टी से उड़ने वाली सौंधी सुगन्ध की ओर गई है और कवि पद्माकर ने तो सीधे विधाता से ही शिकायत की है कि उसे पावस और विरह दोनों का निर्माण नहीं करना चाहिये था। वे कहते हैं कि।—

काहू विरही की कही मान लतौ जो पै दई,
जग में दई तो दयासागर कहाउती ।
पावस बनायो तो न विरह बनाउतौ,
जो विरह बनायो तो न पावस बनाउतौ ।

रीतिकालीन नायक–नायिकाओं के संयोग–वियोग चित्रणों में फंसा हुआ कवि भारतेन्दु युग में स्वतन्त्र प्रकृति चित्रण की ओर मुड़ा पर फिर भी इस युग के कवि भारतेन्दु, श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद पूर्ण रीतिकाल के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाये। श्री हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल एवं रामनरेश त्रिपाठी ने इस नई धारा को आगे बढ़ाया और प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी ने उसे गौरवपूर्ण स्थान पर आसीन किया एवं इस युग के कवियों ने मानव–मन के आवेगों के साथ वर्षा का तादात्म्य स्थापित कर अनेक मनोहारी चित्रों की अवतारणा की :—

प्रसाद जी के काव्य में अंकित कुछ चित्र इस प्रकार हैं : —

आकाश श्री संपन्न था, नव नीरदों से था घिरा,
संध्या मनोहर खेलती थी, नीलपट तम का गिरा।
यह चंचला चपला दिखाती थी कभी अपनी कला,
ज्यों वीर वारिद की प्रभायम रत्नावली मेखला ।। कानन कुसुम ।।

संध्या घनमाला की सुंदर ओढ़े रंग–बिरंगी छींट,
गगन चुंबिनी शैल-श्रेणियां, पहने हुए तुषार किरीट ।। कामायनी
नीचे जलधर दौड़ रहे थे, सुंदर घनुमाला पहने ।
कुंजर कलम सदृश इठलाते, चमकाते चपल के गहने ।।

प्रकृति के माध्यम से प्रसाद जी का एक सौंदर्य चित्र देखिये—

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिल रहा ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग ।

निराला जी की 'बादल राग' कविता वर्षा के रंग–ध्वनि चित्रण में साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है—

उथल–पुथल कर हृदय ·······
मचा हलचल, चल रे चल, मेरे पागल बादल ।
धंसता दलदल, हंसता है नद खल् खल्
बहता कहता कुलकुल कलकल कल-कल ।

इसी प्रकार पंत जी की 'पावस में पर्वत प्रदेश' वर्षा के रूपविस्तार चित्रण का एक अनुपम उदाहरण है:—

पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश,
पल–पल परिवर्तित प्रकृति वेश,
गिरि का गौरव गा कर झर झर,
मद से नस–नस उत्तेजित कर,
मोती की लड़ियों से सुंदर,
झरते हैं झाग भरे निर्झर
मेमनों से मेघों के बाल,
कुदकते थे प्रमुदित गिरि पर ।

पंत जी की बादल कविता में वर्षांत के रजत धवल झीने जालीदार, फूले-फूले धुनी रुई से बादलों का चित्रण अत्यन्त हृदयस्पर्शी हुआ है । पंत और महादेवी दोनों में ही वर्षा के प्रति एक रहस्यमय आकर्षण पाया जाता है । महादेवी पूछती हैं :—

कहां से आये बादल काले,
कजरारे मतवाले,

इतना ही नहीं उनके लिये वर्षा के बादलों में कोई संदेश भी है। वे पुनः पूछती हैं :—

लाये कौन संदेश नये घन,
अंबर गर्वित हो आया नत,
चिर निस्पन्द हृदय में उसके उमड़े री पुलकों के सावन।

आधुनिक युग के कवियों को मानवीय जीवन और भावों के समानान्तर प्रकृति के चित्रों को उपस्थित करना अभीष्ट रहा हैं। बच्चन जी की जुगनू कविता में वर्षा के निविड़ अन्धकार में एक आलोक-कण के अस्तित्व का एक व्यंजक चित्र देखिए—

गगन में गर्व से उठ उठ, गगन में गर्व से घिरघिर,
गरज कहती घटाएं हैं नहीं होगा उजाला फिर,
मगर चिरज्योति में निष्ठा जमाए कौन बैठा है।

अज्ञेय की कविता 'सावन मेघ' वर्षा के साथ अनुभूत वासना की तन्मयता का सुन्दर उदाहरण है :—

घिर गया नभ उमड़ आये मेघ काले,
भूमि के कंपित उरोजों पर झुका सा,
विशद श्वासाहत, चिरातुर छा गया इंद्र का नील वक्ष,
वज्र सा, यदि तड़ित से झुलसा हुआ सा,
आह ! मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार।

बरसात को अपने अंतरमन की शिलाओं के बीच नई शब्द-योजना और चित्रात्मकता के साथ गजानन माधव मुक्तिबोध ने किस प्रकार प्रस्तुत किया है यह देखिये—

किन्हीं भारी दो शिलाओं का अंधेरी संधि में,
उगते हुए उस सत्य को जिसने प्रखर उर रश्मि के आघात हैं,
जिसने हृदय एकत्र जीवन की सकल अनुभूति की.
व्याकुल सजल बरसात से गंभीर महिमापूर्ण श्रीमय वृक्ष में,
यों सहज परिणत कर दिया,
उस रक्त रश्मि विहान वाले ज्ञान गुरु के सूर्य को,
उस विकल जल विस्तार जल-विस्तार वाला-
गहन मन बरसात को मेरे हृदय की किन्हीं नीरव-
दो शिलाओं का कृतज्ञ प्रणाम है।

कवि नागार्जुन का एक सहज सुन्दर वर्षा-चित्र देखिये—

आज होगी सजनि वर्षा हो रहा विश्वास,
हो रहा है अवनि पुलकित ले रही निश्वास,

किन्तु अपने देश में तो,
सुमुखि ! वर्षा हुई होगी एक क्या कई बार,
गा रहे होंगे मुदित हो लोग खूब मलार,
भर गई होगी अरे वह बाग्मती की धार,
उगे होंगे पोखरों में कुमुद पद्म मखान……

तरुण पीढ़ी के कवि नीरज जी ने भी आनन्द के आवेश में वर्षा का कोमल किन्तु ओजपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया है। नई वहू के वर्षा में भगीने का चित्र बड़ा ही मार्मिक एवं सरस बन पड़ा है—

बौछार पड़ी वह, भीग गई वह नई वहू,
वह बादल गरजा वह साजन ने गही बाँह,
वे जुगनू चमके किलक उठे वे ग्वाल-वाल,
वह कजली बोली, वह विरहा कर उठा आह।
रे बाँध सका है कौन समय के सावन को।
वह एक साथ लाखों स्वर में लहराता है,
जो उसे कैद करता है वादल के समान,
मिट्टी पर गिर कर खुद मिट्टी हो जाता है।

वर्षा का अनेकविध सौन्दर्य कवि को अनेक रूपों में आकर्षित करता आया है और करता रहेगा। वर्षा कवि को प्रेरित करेगी और कवि उसके सौन्दर्य को चित्रित करता रहेगा। इस प्रकार वर्षा और कवि का सम्बन्ध सनातन और अभिन्न है।

—:०:—

समकालीन हिन्दी साहित्य में नारी के प्रति बदलता हुआ दृष्टिकोण

शिवचन्द्र नागर

किसी भी युग का समकालीन साहित्य उस युग की समसामयिकता के सन्दर्भों में ही आधुनिकता की तुला पर तुलता आया है, पर आधुनिकता स्वयं मूल्य नहीं होती वह तो एक दृष्टि भर है—एक बोध मात्र। समकालीनता वास्तव में एक क्षणाणुनुभूति है, वर्तमान के महत्व की अनुभूति।

स्टीफन स्पेंडर ने अपनी पुस्तक 'The struggle of the Modern' में समसामयिकता की व्याख्या करते हुए कहा है कि, प्रत्येक छोटे से छोटे क्षण को उसकी समग्रता में अनुभूत करते चलना समसामयिकता की पहली शर्त है।

समकालीन हिन्दी साहित्य में यही अस्तित्व बोध अपने अनेक रूप, रंग और छटाओं में व्यंजित हुआ है, इस आधुनिक बोध के साथ ही नारी के प्रति उसका दृष्टिकोण भी बदलता रहा है।

आदि युग का कवि सामंती नारियों की विरह—व्यथा में डूबता उतराता रहा, कबीर के लिये वह ठगिनी माया थी और जायसी के लिये नागमती जैसी विरहनी, तुलसी अवश्य एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने नारी को जीवन की विविध परिस्थितियों में पुरुष का साझीदार तो समझा पर स्वयं पत्नी की फटकार से प्रसूत प्रतिक्रिया से अपने को मुक्त नहीं कर पाये, रीतिकाल में वह सौन्दर्य की कठपुतली सी पुरुष की काम वासना का खिलौना और तृप्ति बनी रही, भारतेन्दु युग तक आते आते नारी पत्नी या फिर प्रेयसी के रूप में प्रतिष्ठित तो हो चुकी थी पर पुरुष का स्वामित्व अभी भी उस पर हावी था।

द्विवेदी—युग में सुधारवादी आंदोलनों ने कवि का ध्यान नारी—अस्मिता की ओर आकर्षित किया और पुरुष की बराबरी की साझीदार नारी अपने सम्पूर्ण मानसिक एवं आध्यात्मिक सौंदर्य के साथ काव्य का विषय बनी। इस

युग के कवि रामनरेश त्रिपाठी, हरि औध एवं मैथिलिशरण गुप्त ने नारी के प्रति इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है ।

दिनकर की कविता में नारी–प्रेयसी, पत्नी, प्रिया, सखी और माता इत्यादि विविध रूपों में निरूपित हुई । साथ ही उनकी करुण दृष्टि ने समाज व्यवस्था की अभिशप्त नारी–नर्तकी तथा तरुण विधवा की मनस्थिति को भी पहचाना । कुमारी माताओं के सम्बन्ध में दिनकर जी का आक्रोशपूर्ण दृष्टिकोण देखिये—

विधि का पहला वरदान मिला जब तुमको,
गोदी में नन्हा दान मिला जब तुम को,
क्यों नहीं वीर माता बन आगे आई,
सब के समक्ष निर्भय होकर चिल्लाई,
सुन लो समाज के प्रमुख धर्म–ध्वज–धारी,
सुतवती हो गई मैं अनब्याही नारी ।

नई कविता तक जाते–जाते नारी हर क्षेत्र में पुरुषों की बराबरी करने लगी थी । डॉ० हरिचरण शर्मा की दृष्टि में—

'आज दुर्बलताओं का नाम नारी है । वह प्रेमी पर शासन करना चाहती है । तन–मन दोनों को तुष्ट करना चाहती है । समर्पित होती है, लुटती है किन्तु लूटती भी है ।' डॉ० देवराज के शब्दों में–'वह दलित द्राक्षा के समान निचुड़ भले ही जाय किन्तु पुरुष को भी पूर्णतः निचोड़ने में विश्वास करती है ।' नई कविता में प्रमुखतः इसी प्रकार की नारियों ने आकार पाया है । नारी के प्रति इस धारा के कवियों का दृष्टिकोण भोगवादी, सुखवादी तथा अस्तित्ववादी रहा है । वह फ्रॉयड के सेक्स मनोविज्ञान से प्रभावित है । नारी और पुरुष के बीच के समाज–स्वीकृत सम्बन्ध अर्थहीन हो गये हैं, खोखले हो गये हैं । अन्त में नारी नारी है और पुरुष पुरुष, यही मूल-सम्बन्ध आज की समकालीन कविता, कहानी उपन्यास और नाटकों में उभर कर निरुपित हुआ है । आज उसका आदर्श सीता नहीं है, 'वल ओ पेट्रा' है–मां-बाप, पति या पुत्र के नियन्त्रण से मुक्त प्रेम,

काम और जीवन को भोगने की चाह से अनुप्राणित एक मुक्त और स्वतन्त्र नारी 'अज्ञेय', धर्मवीर भारती, शान्ता सिन्हा, शकुंतला माथुर, केदारनाथ अग्रवाल, इंदु जैन और कीर्ति चौधरी की कविताओं में नारी के प्रति यही दृष्टिकोण विकसित होता हुआ दिखाई देता है। वह—योग्य हैं, मोहनी हैं, यथार्थ की प्रतिकृति हे, नारी के प्रति यह योग—परक दृष्टिकोण अज्ञेय की कविता में देखिये —

फूल को प्यार करो,
झरे तो झर जाने दो,
जीवन का रस लो,
देह, मन आत्मा की रसना से
जो भरे उसे भर जाने दो।

काव्य चाहे जितना ही व्यापक, सशक्त एवं मर्मस्पर्शी क्यों न हो पर वह अन्तर्मन की सभी सूक्ष्म संवेदनाओं तथा जीवन की सारी समग्रता को अपने में नहीं समेट पाता, इसके लिये तो उपन्यास और नाटक ही किसी भी युग के साहित्य में सर्वग्राही माध्यम रहे हैं, यही कारण है कि समकालीन हिन्दी साहित्य में नारी के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण प्रमुख रूप से इन्हीं विधाओं में स्पष्ट रूप से उभर कर आये हैं।

नये उपन्यासकार नारी के सन्दर्भ में उसके समकालीन जीवन बोध की अपेक्षा उसके यौन—ग्रसित पक्ष को प्रस्तुत करने में अधिक सक्रिय रहे हैं। आज के उपन्यास साहित्य की मूल-संवेदना से पुरानी घिसी-पिटी परम्पराओं और अर्थ हीन मूल्यों के विरुद्ध नारी का विद्रोह, वह पुराने मूल्यों को नकारती है नये मूल्यों को स्वीकार नहीं कर पाती इसी द्वन्द्व के बीच फँसी हुई नारी की छटपटाहट, उसके मन का आक्रोश, असन्तोष और परिवर्तन की इच्छा के इर्द-गिर्द ही समकालीन हिन्दी उपन्यासकार घूम रहा है। नारी की सेक्स-समस्या इन उपन्यासों में अधिक विस्तार से समायित हुई है पर इस सम्बन्ध में हिन्दी के अग्रगण्य उपन्यासकार अमृतलाल नागर का कथन मुझे अधिक सही प्रतीत होता है, वे कहते हैं —

'हिन्दी में सेक्स-समस्या पर लिखा ही नहीं गया। सेक्स को या तो स्त्री–पुरुष की शारीरिक हलचलों तक सीमित रखा गया है या फिर उसके माध्यम से नारी दृष्टि से सेक्स–समस्या को प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं।'

इस दिशा में मृदुला गर्ग का उपन्यास 'चितकोबरा' एक नारी द्वारा नारी की सेक्स–समस्या को निरुपित करने का एक असफल प्रयास मात्र है क्योंकि इस उपन्यास में 'सेक्स' की मूल-समस्या अश्लीलता को स्पर्श करने वाली शारीरिक काम–क्रीड़ाओं के नीचे दब गई है, प्रेम–हीन सेक्स–दृष्टि का यह एक अच्छा उदाहरण है।

फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास 'पल्टू बाबू रोड' में आर्थिक सुविधाओं के लिये नारी का प्रेम-रहित देह-समर्पण दर्शाया गया है। इस उपन्यास की नारियां बिजली और छवि मुक्त भाव से अपनी देह का व्यापार करती हैं। वे पुरुष के साथ स्वैराचारी तो हैं ही, साथ ही उन दोनों में सम-लैंगिक सम्बन्ध भी हैं। वे Lesbian हैं।

आज के उपन्यास–साहित्य में नारी–पुरुष के सम्बन्धों के सन्दर्भ में क्रूर विसंगतियों से उत्पन्न नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व और उसके सहज आक्रोश को अभिव्यक्ति मिली है। इस दृष्टि से नागर जी का 'नाच्यो बहुत गोपाला', मन्नू भंडारी का 'आपका बंटी', मोहन राकेश का 'अन्तराल', श्रीलाल शुक्ल का 'सीमायें टूटती हैं', राजेन्द्र अवस्थी का 'बीमार शहर', डॉ० देवराज का 'दोहरी आग की लपट', जगदंबा प्रसाद दीक्षित का 'मुरदा घर', ममता कालिया का 'नरक-दर-नरक, 'मुद्राराक्षस का 'अचला एक मनस्थिति' कान्ता भारती का 'रेत की मछली' गोविन्द मिश्र का 'लाल-पीली जमीन' डॉ० शिवप्रसाद सिंह का 'गली आगे मुड़ती है' आशीष सिन्हा का 'समय बीतता हुआ' लक्ष्मीधर मालवीय का 'किसी और सुबह' तथा मालती परुलकर का 'मुक्ता' उल्लेखनीय उपन्यास हैं।

इन उपन्यासों के अतिरिक्त निर्मल वर्मा का 'वे दिन' मोहन राकेश का 'अन्धेरे बन्द कमरे' श्रीकांत का 'दूसरी बार' गिरिराज किशोर का 'यात्रायें' महेंद्र भल्ला का 'एक पति के नोट्स' ममता कालिया का 'बेघर' और कृष्णा सोबती का 'सूरजमुखी अन्धेरे के' नारी और पुरुष के भावहीन संभोग-सम्बन्धों

की उद्‌घाटित करते हैं। 'यात्रायें' उपन्यास में लेखक ने पति–पत्नी के संयोग–रहित साहचार्य की समस्या को उभारा है। 'बेघर' उपन्यास में ममता कालिया ने नारी के शरीर के प्रति एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। विवाह के बाद पहली रात में उपन्यास के नायक परमजीत को सन्देह हो जाता है कि संजीवनी से शरीर को भोगने वाला वह पहला व्यक्ति नहीं है। उसका कौमार्य–भंगका अहंकार तो तुष्ट हो ही नहीं पाया। आज भी इस सन्देह की शिला पर कितने वैवाहिक जीवन नष्ट हो जाते हैं पर वैज्ञानिक दृष्टि से वह सन्देह-बोध कितना खोखला है ?

'सूरजमुखी अन्धेरे के' उपन्यास में कृष्णा सोबती ने एक ठंडी औरत की संभोगीय समस्या को निरुपित किया है। 'विमल जायें तो जायें कहाँ'? उपन्यास में प्राध्यापक और शिष्या के सम्बन्धों को लेकर पारम्परिक मूल्यों के विघटन का दृष्टिकोण प्रस्तुत हुआ है।

'मुरदाघर' उपन्यास में वेश्या-जीवन की करुण विवशताओं का यथार्थ और तीखा चित्रण है। मातृत्व की महानता के प्रति एक वेश्या जो पुत्रवती हुई है वह क्या सोचती है ? वह भगवान को कोसती है'–एक रण्डी के लिए अल्लाह अन्धा है। धन्धा करने वाली को बच्चा दे दिया।'

यही भाव-बोध अन्य सन्दर्भों में रमेशबख्शी के नाटक–'देवयानी का कहना है में व्यक्त किया है। वह कहती है –। 'माँ बनने को तुम लोग जो नारी की पूर्णता कहते हो ना, वह शायद इसलिये कि उससे नारी पूरी तरह फँस जाती है, फिर कोई रास्ता नहीं। किसने यह नियम बनाया है कि विवाह और सम्भोग केवल पुत्र–प्राप्ति के लिये किये जाते हैं।'

आज के नये उपन्यासकारों और कहानीकारों की दृष्टि में नारी का युग–बोध, भोग–बोध में बदल गया है। पारम्परिक मूल्यों के विरुद्ध संघर्ष करती हुई क्रुद्ध नारी (Angry woman) की मानसिकता ही हिन्दी की समकालीन कहानी में व्यंजित हुई है।

देश में बढ़ती हुई मंहगाई ने नारी को आजीविका अर्जित करने वाला बना दिया है। विवाह का आधार पति-पत्नी का आर्थिक तालमेल हो गया है।

परिवार संस्था का विघटन होने लगा है। अविवाहित, परित्यक्ता विधवा सभी के जीवन में नौकरी के कारण नई समस्याओं और नई परिस्थितियों ने करवट बदली है। इन समस्याओं और परिस्थितियों के चित्रण द्वारा जिन कहानियों में नौकरी पेशा नारी के जीवन का यथार्थ उभर कर आया है वे हैं। मोहन राकेश की मिस पाल' कमलेश्वर की 'तलाश' राजेन्द्र यादव की 'छोटे छोटे ताजमहल' उषा प्रियंवदा की 'नागफनी के फूल.। मन्नू भंडारी की 'जीती बाजी की हार' शांति मेहरोत्रा की 'महज एक औरत' मार्कण्डेय की 'एक दिन की डायरी' निर्मल वर्मा की 'परिन्दे' उर्मि दवे की 'एक पुरुष एक नारी' और ममता कालिया की 'नितांत निजी'।

समकालीन हिन्दी कविता, उपन्यास और कहानियों के समानांतर ही हिन्दी नाटकों में भी नारी के प्रति वदलते हुए दृष्टिकोण प्रस्तुत हुए हैं—

सिंदूर की होली' में लक्ष्मी नारायण मिश्र ने विवाह संस्था के विरुद्ध अपना क्रांतिकारी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार नर-नारी में यौन समस्या का एक कारण विवाह की संस्था भी है।

यही दृष्टिकोण थोड़े से परिवर्तन के साथ डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'मादा कैक्टस' में उभर आया है। वे कहते हैं– 'स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में व्याह से भी बड़ी कोई चीज होती है। उसके सामने व्याह तो महज एक बच्चों का घरौंदा है ओर घरौंदा भी ऐसा जो बहुत पुराना हो चला है।

मोहन राकेश के नाटक 'आधे अधूरे' तथा डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'दर्पण' में प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वन्द्व में फँसी हुई नारी का चित्रांकन हुआ है। 'रात रानी' नाटक में एक ऐसी अपने में ही विभाजित नारी को प्रस्तुत किया गया है। जो शरीर से जयदेव की पत्नी है और आत्मा से निरंजन की प्रेमिका।

'करफ्यू' नाटक में डॉ० लाल ने वर्जनाओं में बन्दी दाम्पत्य जीवन के भीतर छटपटाती नारी को इस 'करफ्यू' से बाहर निकाल कर सहज और स्वाभाविक जीवन जीने का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इनके ही 'व्यक्तिगत' नाटक में पत्नी को टुकड़ों में बाँट कर देखने की भर्त्सना की गई है।

नये सामाजिक परिवेश में जहां पति–पत्नी दोनों ही नौकरी करते हैं। परिवार का विघटन तो हुआ ही है, घर का विघटन भी हो गया है। जीवन की इन बदली परिस्थितियों में घर का बोध ही उन्हें नहीं बाँध पाता। अपने नाटक 'बिना दीवारों का घर' में लेखिका मन्नू भंडारी ने अपना दृष्टिकोण इस प्रकार व्यक्त किया कि 'नारी जीवन की यह त्रासदी है कि उसके लिये पुरुष के साथ जीना जितना कठिन है उससे अधिक उसके बिना भी जीना कठिन है'। गिरिराज किशोर के नाटक 'नरमेध' में तो यह बिना दीवारों वाले घर का भाव वोध और भी तीव्रता के उाथ प्रस्तुत हुआ है। इस नाटक की प्रमुख पात्री तारा को लगता है कि 'इस घर में दीवारें हैं न छतें।'

आज के समकालीन हिन्दी नाट्य साहित्य में पौधे, पशु और जीव–जन्तुओं को प्रतीक मानकर भी अनेक नाटक लिखे गये हैं। डा० लाल का 'मादा कैक्टस' ज्ञानदेव अग्निहोत्री का शुतुर्मुर्ग' रमेश बख्शी का 'तीसरा हाथी' सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी' हमीदुल्ला का 'दरिन्दे' तथा मुद्राराक्षस के 'तेन्दुआ' और 'तिलचट्टा' ऐसे ही नाटक हैं। इन नाटकों में प्रमुखतः पशु संस्कृति के माध्यम से नारी–पुरुष के पशु-वत स्वच्छन्द यौनाचार और जीवन की विसंगतियों से उत्पन्न काम–समस्याओं का प्रभाव–चित्रण हुआ है।

समकालीन हिन्दी साहित्य में नारी के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोणों की वोध–यात्रा, जीवन–विकास के चरणों से वंधी हुई है। स्त्री जो पहले केवल एक वस्तुमात्र थी वह व्यक्ति के रूप में उभर कर जीवन के हर क्षेत्र में पुरुष के साथ समानता की स्पर्धा में रत है, साहित्य उसका अनुगामी था, है और रहेगा।

— + —

दीपशिखा के आलोक तत्व

श्री शिवचन्द्र नागर

जिस प्रकार सदैव से जीवन, समाज और मानव विकासशील और गतिशील रहा है वैसे ही साहित्य भी। साहित्य के भीतर जिस युग में जो विशेष प्रवृत्ति अधिक व्यापक और प्रबल रही उसी प्रवृत्ति के नाम पर साहित्य में उस युग विशेष का नामकरण हो गया, जैसे उदाहरण के लिये द्विवेदी-युग, छायावादी युग, रहस्यवादी-युग। इस युग विशेष का अर्थ जहाँ एक ओर विशेष प्रवृत्ति की व्यापकता और प्रधानता होता है वहाँ दूसरी ओर दूसरी प्रवृत्तियों की नितान्त शून्यता नहीं होती। साहित्य तो एक जलधारा की भाँति है; जैसे गंगा ही आगे चलकर हुगली हो जाती है। ऐसे ही एक युग-विशेष अपनी विशेषता को खोते खोते और अन्य किसी विशेषता को अपनाते अपनाते एक दूसरे युग में परिवर्तित हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य में दो युगों के बीच एक विभाजक सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती। छायावादी युग मे भी प्रगतिवाद की, उत्कृष्ट रचनायें हुई हैं और प्रगतिवादी युग में भी छायावाद की उत्कृष्ट रचनायें होंगी।

महादेवी जी की 'दीपशिखा' निस्संदेह छायावादी युग की एक उत्कृष्ठ रचना तथा भावात्मक रहस्यवाद की एक सुन्दर रस-मंजूषा है। पर फिर भी यदि हम ध्यानपूर्वक अपनी विश्लेषक दृष्टि से देखें तो जहाँ महादेवी जी की दीप शिखा में उनकी रहस्य साधना की स्नेह ज्योति है वहाँ दूसरी ओर एक विशेष मार्ग पर निरन्तर बढ़ने वाले पथिक के साहसिक तथा प्रगतिशील तत्वों के प्रकाश कण भी हैं।

प्रगतिवादी आलोचकों ने महादेवी जी के काव्य में केवल व्यथा, वेदना और आँसू के ही दर्शन किये हैं, पर उनकी व्यथा के पीछे क्या कथा है ? उनकी वेदना के पीछे कौन सी भावना है और उनके आँसुओं में कौन सा रंग है; उनकी

सीमित दृष्टि अपनी परिधि में यह सब कुछ नहीं भर सकी। मनुष्य के साहस, उत्साह, शक्ति और प्रेरणा को डुबा देने वाले अथवा छिन्न भिन्न कर देने वाले आँसुओं में तथा मनुष्य में नवीन उत्साह, शक्ति और प्रेरणा भर देने वाले आँसुओं का भेद भी उन्होंने भुला दिया है। उन्होंने इस सत्य की ओर भी ध्यान नहीं दिया कि दुःख की एक अभिव्यक्ति मनुष्य को कायर बना देती है और उसी दुःख की दूसरी अभिव्यक्ति, साहसी, वीर दृढ़ प्रतिज्ञ और विद्रोही। अपनी दीप-शिखा के प्रथम गीत में ही महादेवी जी कहती हैं—

दीप मेरे जल अकंपित, धुल अचंचल।
स्वर प्रकंपित कर दिशायें
मीड सब भू की शिरायें।
गर रहे आंधी प्रलय,
तेरे लिये ही आज मंगल।

आंधी और प्रलय से वे घबराई नहीं बल्कि उन्होंने उसमें मंगल गान ही सुना है।

रास्ते के शूलों को देखकर वे न तो निरुत्साह ही होतीं और न उनके पैर ही डगमगाते। वे अपने संकल्प पर दृढ़ हैं और तब तक चलती रहेंगी जब तक उनके चरण नवप्रभात की स्वर्णवेला को नहीं छू लेंगे।

पंथ रहने दो अपरिचित,
प्राण रहने दो अकेला।
अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते दे,
शूल को संकल्प सारे।
दुखव्रती निर्माण उन्मद
यह अमर नापते पद,
वाँध देंगे अँक संसृति से
तिमिर में स्वर्ण बेला।

अंधकार उन्हें अच्छा नहीं लगता। वे तो उसे प्रकाश से जगमगाना चाहती हैं।

सब बुझे दीपक लूँ ।
घिर रहा तम आज दीपक
रागिनी अपनी जगा लूँ ।

और दीपक की ओर संकेत कर वे कहती हैं :—

तेरी छाया में अमिट रंग
तेरी छाया में अमर गान
उस पार कुहर धूमिल कर से
उजला संकेत सदा झरता
चल आज तमिला के उर्मिल
छोरों में स्वर्ग तरल भरता
उन्मद हँस तू ।
मिट मिट बस तू ।
चिनगारी का पी मधुरस तू
तेरे क्षय में दिन की उड़ान ।

वे कहती हैं कि यदि प्रभात होते होते मेरा दीपक बुझ भी जाय तो कोई चिन्ता नहीं पर प्रभात वांछनीय है । युग के अंधकार को दूर करने के लिये उन्हें अपने अस्तित्व को मिटाने में भी तनिक संकोच नहीं ।

तम में बन कर दीप सबेरा,
आंखों में भर बुझ जाऊँगी,

अंधकार से वे कभी आतंकित नहीं होतीं ।

घिरती रहें रात
न पथ रुँधती ये
गहनतम शिलायें
न गति रोक पातीं,
पिघल मिल दिशायें
चली मुक्त में ज्यों
मलय की मधुर बात ।

न आँसू गिने औ,
न काँटे सँजाये।
न पगचाप दिग्भ्रांत
उच्छ्वास खोये।

मुझे भेटता हर पलक-पात में प्रात।

अभी अंधकार का कितना रास्ता शेष रह गया है यह पूछना भी उन्हें सह्य नहीं—

पूछता क्यों शेष कितनी रात ?

पथ पर चलना ही, उनकी साधना है वे इधर उधर की उलझनों में नही पड़ती वे स्पष्ट कहती हैं।

मैं कैसे उलझूं इति-अथ में ?
गति मेरी सँसृति है पथ में।

अपने मार्ग पर वे इतनी दृढ़ हैं कि :—

छा—भलें ले आज अग—जग
वेदना की घन - घटायें
सिहरता मेरा न लघु उर,
काँपते पग भी न मृदुतर।
ज्वाल के हों सिंधु तरलित
तुहिन विजडित मेरु शत-शत
पार कर लूँगी वही पग-चाप,
यदि कर दे निमंत्रित।

पथ के अनेक काँटों का अपने पद तलों से तथा ज्वालाओं का अपनी हँसी से स्वागत करने के उपराँत भी उन्हें यह विश्वास है कि इस पथ का पारायण अवश्य ही अनन्त सुख में होगा पर फिर भी वे पूछती हैं कि मैंने बड़े साहस से इतना मार्ग तो तय कर लिया अब बताओ—

अब कहो सन्देश है क्या ?
और ज्वाल विशेष है क्या ?
अग्नि पथ के पार चन्दन चाँदनी का देश है क्या ?

रास्ते की बाधाओं से वे ऊबती नहीं और न उन पर क्रुद्ध ही होती बल्कि अपने भीतर के स्नेह से उनकी कठोरता को धो डालती हैं—

रोके निठुर धूल,
थामें कठिन शूल,
पथ में बिछें या हँसे व्यंगमय फूल,
सब का चरण लिख रहें,
स्नेह इति हास ।

थक जाने पर भी वे कहती हैं: —

आज थके चरणों ने सूने,
तम में विद्युत लोक बसाया,
बरसातीं है रेणु चाँदनी की
यह मेरी धूमिल छाया ।

रास्ते पर यदि फिर शूल आ गये हैं और पैरों में छाले पड़ गये हैं तो वे कहती हैं कि :—

फिर तुमने क्यों शूल बिछाये ?
इन तलवों में गति परिमल है,
झलकों में जीवन का जल है,
इनसे मिल काँटे उड़ने को
रोयें झरने को मुस्काये ।

वे वरदान भी यही माँगती हैं कि—

स्वप्न–संगी पंथ पर हो,
चाप का पाथेय भर हो,
तिमिर झंझावत ही में
खोजता इसको अमर गति की
कथा का एक स्वर हो ।
यह प्रलय को भेंट कर
अपना पता ले जान ।
आज दे वरदान ।

वे सपनों में अवश्य विचरण करना चाहती हैं पर उनके सपनों में पराजय की कल्पना नहीं वल्कि विजय का आलोक है—

सपने जगाती आ।
शूल सहते,
फूल रहते,
मौन में निज हार कहते,
अश्रु अक्षर में पता जयका,
बताती आ।

कर व्यथायें सुख कथायें,
तोड़ सीमा की प्रथायें,
प्रात के आलोक से,
हर दृग सजाती आ,
उर उर बसाती आ,
सपने जगाती आ।

उन में इस संसार के निष्ठुर सत्यों से मुंह मोड़ कर भागने की पलायन-वादी वृत्ति भी नहीं मिलती। यहाँ केवल नरक की कीचड़ ही कीचड़ है यह भी वे नहीं मानती उनका विश्वास है कि मनुष्य अपनी करुणा और स्नेह से इसी धरा पर स्वर्ग का निर्माण कर सकता है, वे कहती हैं—

अब न कह जग रिक्त है यह
पंक ही से सिक्त है यह
देख तो रज में अचंचल
स्वर्ग का युवराज तेरे,
अश्रु से अभिषिक्त है यह।

उनके गीत इसी धारा के हैं पर वे किरणों के आलोक रथ से आकाश को छूना चाहती हैं कि जिस मार्ग पर चलने की आलोक कथा को उन्होंने अपने गीतों में व्यक्त किया है वह पथ भी शाश्वत है और इसलिये उसकी कथा भी अमर रहेगी। वे कहती हैं—

अब धरा के गान ऊने
मचलते हैं गगन छूने
किरण रथ दो
सुरभि पथ दो,
और कह दो अमर मेरा हो चुका सन्देश।

उनकी साधें यह बात सच है कि करुणा–जनित हैं पर फिर भी उनमें सन्ध्या समय वर्षा के रंगीन बादलों के से रंग हैं 'और विद्युत का प्रकाश है' जो प्रत्येक के हृदय में बस जाता है—

साधें करुणा अंक ढली हैं,
सांध्य गगन सी रंगमयी पर
पावस सी सजला बदली हैं'
विद्युत के दे चरण इन्हें'
डर डर की राह बताना

उनके चरण सृजन की ओर उन्मुख रहे है और उन्होंने अपनी वाणी से सृजन का ही सन्देश भी दिया है और हम देखते हैं कि कहीं कहीं दीपशिखा के गीतों में मुक्ति की सशक्त भावना भी सिहर उठी है—

कहो मत प्रलय द्वार पर रोक लेगा ?
वरस में मुझे कौन वरदान देगा ?
हुआ कब सुरभि के लिये फूल बन्धन ?

बादलों पर लिखते हुए महादेवी जी एक साधारण कृषक के दृष्टिकोण को भी नहीं भूलती—

कहाँ से आये बादल काले ?
कजरारे मतवाले ?
वह जड़ता हीरों से डाली,
यह भरती मोती से बाली,
नभ कहता नयनों में बस,
रज कहती प्राण समा ले।

इन अनेको उदाहरणों से हम देखते हैं कि मूलतः उनमें कोई क्षयवादी (Decadant) निराशावादी (Pessimist) तथा प्रतिक्रियावादी

(Reactionary) प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि उनका वाक्य आशावादी जीवन के उज्जवल आलोक से झिलमिला रहा है। यह बात सच है कि आलोक तक पहुंचने का मार्ग अन्धकारमय अवश्य है पर उस अन्धकार को उन्होंने कुछ भी नहीं समझा; उस अन्धकार की छाती पर उनका पथ विद्युत रेखा की भाँति पार चला गया है।

यह बात भी सत्य है कि उनके काव्य में आँसू, व्यथा, वेदना तथा कशक की चर्चा आई है पर महादेवी जी के लिये इनमें से कोई भी साध्य नहीं, साधनों की संज्ञा भी उन्हें नहीं दी जा सकती बल्कि वे तो उनके तढ़ने के पथ पर, संघर्ष पर विजय के चिन्ह मात्र हैं।

यह बात भी सत्य है कि दीपशिखा की कथा शोषक और शोषित के संघर्ष की कथा नहीं, तम और आलोक के शाश्वत संघर्ष की कथा अवश्य है। उसमें साम्यवादी सिद्धान्तों का विवेचन नहीं, गर वह जन कल्याण की मंगल कामना से पुलकित अवश्य है। उसमें ध्वंस के शोले, मशाल और चिनगारियाँ नहीं पर सृजनात्मक, शान्त और सुन्दर आलोक अवश्य है। उसमें कोरे बुद्धिवादी तर्क-जाल में सत्य नहीं बंधा, पर निस्सन्देह उसमें सत्यों का विविधरंगी व्यापक आकाश अवश्य बन्दी है।

महादेवी जी ने तो युग की व्यापक व्यथा को अपने छोटे से मृण्मय दीपक के अक्षय स्नेह में डूबो दिया और शुद्ध आलोक बखेरती हुई जली उनकी 'दीपशिखा'। उसकी लौ में प्रगतिवादियों को धुँआ ही धुँआ दिखाई देता है पर वास्तव में सत्य यह है कि वे राजनीति के धुँआधार चमत्कारों के बीच फँस कर आलोक को परखने की क्षमता भी खो बैठे हैं। सत्य के दर्शन सब को एक ही प्रकार से नहीं होते, मेरी समझ में नहीं आता कि जिस सत्य के दर्शन मार्क्स और ऐंजिल्स ने किये थे उसी सत्य के दर्शन क्या किसी और को सम्भव नहीं? पर बात यह है कि तोते की तरह वेद पाठ करने वाले छाँदसों के लिये वेद की ऋचाओं का क्या महत्व? दुःख की बात यही है कि मार्क्स और ऐंजिल्स के अधिकतर अनुयायी ऐसे ही छाँदस हैं जिन्होंने राजनैतिक वादों के पीछे पड़कर जीवन के दूसरे सत्यों को—कि जिनमें प्रगतिशील तत्वों की अभिव्यक्ति हो सकती है—समझने के वातायन बन्द कर दिये हैं। इन साहित्यिक छांदसों के कोलाहल तथा मूर्ख पुजारियों के घन्टे घड़ियाल और शंखध्वनियों के बीच महादेवी जी की दीपशिखा के स्वर खो सकते हैं पर आलोक नहीं।

पत्र लेखन—एक कला

-शिवचन्द्र नागर-

आदि काल से ही मनुष्य इच्छाओं, भावों और विचारों को व्यक्त करने का माध्यम मनुष्य की अपनी भाषा रही है। अतः उस भाषा को जितने मनुष्य समझते रहे होंगे अथवा बोलते रहे होंगे, उन मनुष्यों का ही समुदाय रहा होगा। उस समुदाय में ही आपस में उन मनुष्यों की बातचीत चलती रही होगी और उस भाषा के माध्यम से ही कभी कभी वे किसी विश्वस्त व्यक्ति द्वारा परस्पर अपना सन्देश भी पहुंचाते रहे होंगे। पर मनुष्य स्वभाव से ही सन्देहशील प्राणी है, और फिर हर समय ऐसा विश्वसनीय व्यक्ति, जो सन्देश-वाहक कार्य कर सके और किसी के रहस्यों को अपने भीतर उसी प्रकार पचा सके, जैसे दूध पानी को पचा लेता है, मिलना भी बहुत कठिन है। दूसरे एक व्यक्ति की बात को दूसरे व्यक्ति तक ज्यों का त्यों पहुंचा देना भी यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। तीसरे ऐसे व्यक्ति भी इस विशाल विश्व में कदाचित् ही मिल पाते हैं, जिनके सम्मुख हम अपने मन, बुद्धि और जीवन के सारे रहस्य खोल सकें।

आवश्यकता सदैव आविष्कार की जननी रही है। अतः एक व्यक्ति के रहस्य को दूसरे व्यक्ति से छिपाये रखने की आवश्यकता ही आंशिक रूप में लिपि के आविष्कार की प्रेरक रही होगी। कुछ उदबुद्ध चेतना वाले व्यक्तियों ने ही लिपि का आविष्कार किया होगा और लिपि केवल वे ही लोग सीख पाये होंगे, जिनके मन में सीखने की उत्कट इच्छा रही होगी अथवा जो उनकी आवश्यकता का अनुभव करते रहे होंगे। फिर उन्हीं लोगों में सर्वप्रथम मौखिक सन्देशों का स्थान पत्रों ने लिया होगा और वे पत्र उस लिपि से अनभिज्ञ सन्देश-वाहकों द्वारा भेजे जाते रहे होंगे। इसलिए मेरा विश्वास है कि पत्र-लेखन का इतिहास भी लिपि के इतिहास जितना ही पुराना है।

अनुभूति, भाव तथा विचारों की अभिव्यक्ति को सुन्दर से सुन्दरतर और सुन्दरतर से सुन्दरतम बनाने की प्रेरणा ही मूलतः कला का आधार है। पहले

पत्र-लेखन भी वैसे ही उपयोगिता की वस्तु रहा होगा, जैसे भोजन करना, वस्त्र पहनना, घूमना-फिरना इत्यादि। इसका वह रूप आज भी हमें गांव के पढ़े-लिखे लोगों के जीवन में मिल सकता है जैसे :—

'रमई काका को मनेसपुर से मसुरियादीन का राम-रान वंचना। यहाँ सब राजी खुशी हैं। आपकी कुशलता भगवान से नेक चाहते हैं। भइया माधोदीन की विटिया का परसों रात कूँ सन्निपात से सुरगवास हो गया। भूरे सिंह की बड़ी बिटिया का कुँवार वदी आठे का ब्याह है। सहर से दो धोती जोड़े और एक पिंडा तँवाखू लेते आइयो। बड़ों को राम-राम बच्चों को प्यार। बस !

मसुरियादीन।'

इस पत्र में स्थूल जगत से सम्बन्धिव कुछ सूचनाएँ और व्यक्तियों की इच्छाएँ तथा भावनाएँ है। अनुभूति, भाव तथा विचारों की सूक्ष्माभिव्यक्ति इसमें कहीं भी नहीं और जो स्थूल अभिव्यकित है, वह सौंदर्य के माध्यम द्वारा नहीं हुई है। अतः इस पत्र-लेखन को न तो कला कहा जा सकता और न इसमें व्यक्त वस्तु को साहित्य ही। इस पत्र से तो केवल रमई काका और मसुरियादीन का सम्बन्ध है। इस पत्र में यदि मसुरियादीन ने अपनी व्यक्तिगत चेतना का वह रूप अंकित किया होता, जिसमें समाज अपनी चेतना की छाया देख सकता और जो अभिव्यक्ति का सुन्दर और सरल माध्यम होता, तो यही पत्र उत्कृष्ट कला का एक नमूना और साहित्योपवन का एक सुन्दर फूल बन गया होता।

जैसे माणिक्य के प्याले में मदिरा भी भरी जा सकती है और सुधा भी उसी प्रकार पत्र-लेखन भी एक ऐसा ही माणिक्य का प्याला है, जिसमें जीवन की दिन प्रति दिन की आवश्यकताओं का जल भी भरा जा सकता है और विचार तथा भावों के मंथन से निकला हुआ, मनुष्य की वाङ्मय चेतना का सुधा-रस भी। पत्र-लेखन एक ऐसी कला है कि जिसे उसके नपे-तुले अर्थ में लेखन के केवल एक रूप (form) की संज्ञा दी जा सकती है। इस दृष्टि से उसकी वस्तु (matter) तथा आत्मा (spirit) का कोई विशेष महत्त्व नहीं। पर, जब हम इसी की कला के माध्यम द्वारा साहित्य-सृजन की ओर उन्मुख होते हैं, तो ये ही गौण वस्तुएँ विशिष्ट बन जाती हैं। जहाँ तक पत्र-लेखन केवल एक कला है,

पत्र लेखन—एक कला

-शिवचन्द्र नागर-

आदि काल से ही मनुष्य इच्छाओं, भावों और विचारों को व्यक्त करने का माध्यम मनुष्य की अपनी भाषा रही है। अतः उस भाषा को जितने मनुष्य समझते रहे होंगे अथवा बोलते रहे होंगे, उन मनुष्यों का ही समुदाय रहा होगा। उस समुदाय में ही आपस में उन मनुष्यों की बातचीत चलती रही होगी और उस भाषा के माध्यम से ही कभी कभी वे किसी विश्वस्त व्यक्ति द्वारा परस्पर अपना सन्देश भी पहुंचाते रहे होंगे। पर मनुष्य स्वभाव से ही सन्देहशील प्राणी है, और फिर हर समय ऐसा विश्वसनीय व्यक्ति, जो सन्देश-वाहक कार्य कर सके और किसी के रहस्यों को अपने भीतर उसी प्रकार पचा सके, जैसे दूध पानी को पचा लेता है, मिलना भी बहुत कठिन है। दूसरे एक व्यक्ति की बात को दूसरे व्यक्ति तक ज्यों का त्यों पहुंचा देना भी यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। तीसरे ऐसे व्यक्ति भी इस विशाल विश्व में कदाचित् ही मिल पाते हैं, जिनके सम्मुख हम अपने मन, बुद्धि और जीवन के सारे रहस्य खोल सकें।

आवश्यकता सदैव आविष्कार की जननी रही है। अतः एक व्यक्ति के रहस्य को दूसरे व्यक्ति से छिपाये रखने की आवश्यकता ही आंशिक रूप में लिपि के आविष्कार की प्रेरक रही होगी। कुछ उद्बुद्ध चेतना वाले व्यक्तियों ने ही लिपि का आविष्कार किया होगा और लिपि केवल वे ही लोग सीख पाये होंगे, जिनके मन में सीखने की उत्कट इच्छा रही होगी अथवा जो उनकी आवश्यकता का अनुभव करते रहे होंगे। फिर उन्हीं लोगों में सर्वप्रथम मौखिक सन्देशों का स्थान पत्रों ने लिया होगा और वे पत्र उस लिपि से अनभिज्ञ सन्देश-वाहकों द्वारा भेजे जाते रहे होंगे। इसलिए मेरा विश्वास है कि पत्र-लेखन का इतिहास भी लिपि के इतिहास जितना ही पुराना है।

अनुभूति, भाव तथा विचारों की अभिव्यक्ति को सुन्दर से सुन्दरतर और सुन्दरतर से सुन्दरतम बनाने की प्रेरणा ही मूलतः कला का आधार है। पहले

पत्र-लेखन भी वैसे ही उपयोगिता की वस्तु रहा होगा, जैसे भोजन करना, वस्त्र पहनना, घूमना-फिरना इत्यादि। इसका वह रूप आज भी हमें गांव के पढ़े-लिखे लोगों के जीवन में मिल सकता है जैसे :—

'रमई काका को मनेसपुर से मसुरियादीन का राम-रान वंचना। यहाँ सब राजी खुशी हैं। आपकी कुशलता भगवान से नेक चाहते हैं। भइया माधोदीन की बिटिया का परसों रात कूँ सन्निपात से सुरगवास हो गया। भूरे सिंह की बड़ी बिटिया का कुँवार वदी आठे का ब्याह है। सहर से दो धोती जोड़े और एक पिंडा तँवाखू लेते आइयो। बड़ों को राम-राम बच्चों को प्यार। बस!

मसुरियादीन।'

इस पत्र में स्थूल जगत से सम्बन्धिव कुछ सूचनाएँ और व्यक्तियों की इच्छाएँ तथा भावनाएँ है। अनुभूति, भाव तथा विचारों की सूक्ष्माभिव्यक्ति इसमें कहीं भी नहीं और जो स्थूल अभिव्यक्ति है, वह सौंदर्य के माध्यम द्वारा नहीं हुई है। अतः इस पत्र-लेखन को न तो कला कहा जा सकता और न इसमें व्यक्त वस्तु को साहित्य ही। इस पत्र से तो केवल रमई काका और मसुरियादीन का सम्बन्ध है। इस पत्र में यदि मसुरियादीन ने अपनी व्यक्तिगत चेतना का वह रूप अंकित किया होता, जिसमें समाज अपनी चेतना की छाया देख सकता और जो अभिव्यक्ति का सुन्दर और सरल माध्यम होता, तो यही पत्र उत्कृष्ट कला का एक नमूना और साहित्योपवन का एक सुन्दर फूल बन गया होता।

जैसे माणिक्य के प्याले में मदिरा भी भरी जा सकती है और सुधा भी उसी प्रकार पत्र-लेखन भी एक ऐसा ही माणिक्य का प्याला है, जिसमें जीवन की दिन प्रति दिन की आवश्यकताओं का जल भी भरा जा सकता है और विचार तथा भावों के मंथन से निकला हुआ, मनुष्य की वाङ्मय चेतना का सुधा-रस भी। पत्र-लेखन एक ऐसी कला है कि जिसे उसके नपे-तुले अर्थ में लेखन के केवल एक रूप (form) की संज्ञा दी जा सकती है। इस दृष्टि से उसकी वस्तु (matter) तथा आत्मा (spirit) का कोई विशेष महत्त्व नहीं। पर, जब हम इसी की कला के माध्यम द्वारा साहित्य-सृजन की ओर उन्मुख होते हैं, तो ये ही गौण वस्तुएँ विशिष्ट बन जाती हैं। जहाँ तक पत्र-लेखन केवल एक कला है,

एक व्यापारी भी अपने एजेन्टों को; एक अफसर अपने मातहतों को और एक सेवक अपने स्वामी को भी सुन्दर पत्र लिख सकता है। कभी कभी वैवाहिक (matrimonial) पत्न भी बड़े सुन्दर होते हैं, पर उन पत्रों को साहित्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। कोई भी पत्र, यदि उसमें अल्काब-आदाब ठीक है, भाषा शुद्ध तथा अर्थवादी है, भाव स्पष्ट हैं और बातों को दोहराया नहीं गया है, तो वह पत्र अवश्य है, फिर भी उसे साहित्य नहीं कहा जा सकता। पर इन्हीं पत्रों में जब अभिव्यक्ति को कलात्मक रूप दे दिया जाता है, तो उनके द्वारा जीवन और साहित्य के गहन तथा सरल तत्वों का विश्लेषण, विवेचन और मूल्यांकन भी हो सकता है तथा अनुभूति और चिंतन की गहराई भी व्यक्त की जा सकती है। व्यक्तिगत होने पर भी ऐसे पत्रों की प्रेरणा (appeal) व्यापक हो सकती है, और वे जन-समाज की चेतना के प्रतिनिधि बन कर, जन-जन के अन्तर में रसोद्रेक भी कर सकते हैं। ऐसे ही पत्न साहित्य में स्थ.न पा सकते हैं। फिर इस प्रकार के पत्न-साहित्य की अपनी अलग विशेषताएँ भी होती हैं। यही कारण है कि कभी-कभी एक पत्र ही विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि बन जाता है। उदाहरणार्थ 'फैनी ब्राउन' को लिखा हुआ 'कीट्स' का अन्तिम पत्र।

जिस व्यक्ति के मन और प्राण, साहित्य में डूबे हों, साहित्य-सृजन ही जिस के जीवन की साधना हो, गति हो, और लय हो, उसकी लेखनी से निकले हुए पत्र ही साहित्य होंगे। उसने अपनी अनुभूति से जिन तत्वों को अपने प्राणों में उतारा है, उनकी छ.या होगी उन पत्नों में, संसार के आघात-प्रत्याघातों से हुई प्रतिक्रियाओं के चिन्ह होंगे उन पर और जो कुछ उसने अध्ययन से ज्ञान संचय किया है, उसके रस से अनुप्राणित होंगे वे पत्र। विशुद्ध व्यावहारिक पत्नों की बात तो जाने दीजिये, पर और जो कुछ भी वह लिखेगा, वह साहित्य होगा और इस साहित्य में होगी उसके जीवन की अभिव्यक्ति।

जिस साहित्य में अनुभूति की जितनी अधिक गहराई और अभिव्यक्ति की जितनी अधिक निश्छलता होती है, वह साहित्य दुनिया के आलोचकों की दृष्टि में उतना श्रेष्ठ समझा गया है। मेरी समझ में पत्नों के माध्यम से प्रणीत साहित्य में इस महानता की अवतारणा अधिक सहज और स्वाभाविक है। जब हम पत्र

लिखने बैठते हैं, तो कुछ पत्रों के लेखन में हम ऐसी समाधिस्थ-सी स्थिति में पहुँच जाते हैं कि जैसे हमारी चेतना-इन्द्रियों की बाहर बिखरी हुई समस्त चेतना भीतर सिमट कर, चुपके से लेखनी की नोक पर आ बिराजी हो। हम जिस व्यक्ति को पत्र लिखते होते हैं, उसकी चेतन मूर्ति अनायास ही हमारे सामने आ खड़ी होती है और फिर जब हम पत्र लिखने लगते हैं, तो ऐसा लगने लगता है कि मानो उन दो चेतनाओं में एक आलोक का तार सा जुड़ गया है। ऐसे आलोक की छाया में ही कभी कभी उच्च कोटि के साहित्य की सृष्टि हुई है। डा० जॉनसन का मिसेज थेल को लिखा हुआ निम्न पत्र साहित्य की विशेषताओं पर अच्छा प्रकाश डालता है :-

लिशचील्ड,

२७ अक्टूबर, १७१७

प्रियतमे,

तुम तो मुझे बराबर पत्र लिखने का उलाहना देती रहती हो। तुम्हें मेरे पत्रों से कितना प्यार है। जानती हो, यदि हमारा पत्र-व्यवहार प्रकाशित कर दिया जाए, तो आने वाली पीढ़ियाँ यह कह उठेंगी कि मैं एक अच्छा लेखक भी था। भावना-शून्य मस्तिष्क को लेकर, मेज पर बैठ जाता हूँ। पर कुछ लिख देने के बाद भी यह अनुभव करता हूँ कि मैंने कुछ लिखा ही नहीं।

कुछ लोग जब अपने मित्रों के पास लिखने बैठते हैं, तो उपदेशों की झड़ी लगाने लगते हैं। वे विचारक बन बैठते हैं। कुछ केवल समाचार देते हैं, तो दूसरे गुप्त बात ही। सच पूछो, तो उपदेश, स्नेह, समाचार एवं रहस्य के अभाव में पत्र लिखना असम्भव ही है।

किसी मनुष्य के पत्रों में प्रिये! उसकी आत्मा नगन रूप में अनावृत्त होती है। पत्र उसके हृदय के दर्पण होते हैं। द्वन्द्व उसके हृदय में उठता रहता है, वह वहां स्वाभाविक रूप में अंकित रहता है, न कुछ मन से गढ़कर जोड़ा जाता है और न कुछ घटाया ही। क्या इन पृष्ठों में तुम मेरी निरावरण आत्मा के दर्शन नहीं पाती हो! फिर मित्र के साथ पत्र-व्यवहार करने का यही आनन्द है कि वहाँ सन्देह एवं शंका का कोई स्थान नहीं। जो भी विचार आता है, ज्यों का त्यों रख दिया जाता है।

मुझे विश्वास है, मेरी रानी ! कि वे पंक्तियाँ तुम्हारे हृदय को स्पर्श कर, वहाँ अपना घर बनाएंगी। इन्हीं पत्रों के माध्यम से आत्माएं एकता के सूत्र में आबद्ध होती हैं। मैंने तुमसे कुछ भी छिपा कर नहीं रखा और इस प्रकार अपने को खोल कर रखने का मुझे तनिक भी पश्चाताप नहीं है।

सैमुअल जॉनसन

पत्र-लेखक और जिसे पत्र लिखा गया है, उन दोनों की चेतनाओं के एक प्रकार का सामंजस्य अनिवार्य है और यह सामंजस्य ही सदैव से पत्र-साहित्य का प्राण रहा है। इसलिए जिसे हम पत्र लिख रहे हैं, यदि उसकी चेतना का स्तर हमसे बहुत नीचे है, तो सामंजस्य के लिए या तो हमें थोड़ा-सा नीचे उतरना पड़ेगा या वह व्यक्ति हमारी अभिव्यक्ति के लिए सीमा बन जाएगा। तब हम सीमा के भीतर ही चल-फिर सकेंगे। पर ऐसी स्थिति में आशंका यही है कि हम अपने भीतर का सर्वोत्तम कदाचित न दे पायें। इसलिए अपने भीतर का सर्वोत्तम देने के लिए जिसे हम पत्र लिख रहे हैं, उसके मन, बुद्धि और चेतना का स्तर यदि हमसे ऊँचा नहीं है तो हमारे बराबर अवश्य होना चाहिए जिससे यदि हमें उसकी ऊँचाई को छूने का अवसर न मिल पाए, तो साथ ही उसके हाथ में हाथ डाल कर विचरण करने के सुख से तो हम वंचित न रहें।

दूसरी वस्तु, जो पत्र-लेखन में बड़ी महत्वपूर्ण है, वह है उस व्यक्ति की सहानुभूति का विश्वास, जिसे पत्र लिखे जाते हैं। यह सहानुभूति का विश्वास ही पत्र लिखने वाले के लिए प्रेरणा बन जाता है। दोनों व्यक्तियों के विचारों में अन्तर हो सकता है, पर यदि पत्र लिखने वाले को सहानुभूतिपूर्ण उत्तर न मिला तो उसका उत्साह मर जाएगा। पत्र लिखने वाले को तो सदैव लगना चाहिए कि जिसे वह यह पत्र लिख रहा है, वही एक मन ऐसा है, जिसमें वह अवश्य ही अपनी आवज की प्रतिध्वनि सुन सकता है। इस विश्वास में सन्देह का आभासमात्र ही कभी कभी पत्र लेखक की लेखनी के प्रवाह की गति को अवरुद्ध और रस का अपहरण कर लेता है। इसलिए पत्र-लेखक के लिए दूसरी सीमा इस सहानुभूति के विश्वास की कमी है।

हम जिसे पत्र लिख रहे हैं, उसके प्रति हमारा क्या भाव है, इसका प्रभाव भी पत्र-साहित्य पर पड़ता है। जिसे हम पत्र लिख रहे हैं, यदि वह हमसे छोटा है और उसके प्रति हमारे मन में केवल स्नेह का भाव उमड़ता है, तो उन पत्रों का साहित्य उसी स्नेह-रस से सिक्त होगा। लिखने वाला अपनी बात अधिक दृढ़ता तथा विश्वास के साथ कहेगा तथा उसकी बातें शिक्षा और उपदेश का रूप भी ग्रहण कर सकती है, जैसे अँग्रेजी में चेस्टर फील्ड के पत्र अपने पुत्र को और पंडित नेहरु के पत्र अपनी पुत्री प्रियदर्शिनी इंदिरा को। इस प्रकार के पत्रों में अपने अनुभव और ज्ञान को ही दूसरे तक पहुंचाने का उद्देश्य होता है। इन पत्रों की सब से बड़ी विशेषता यह है कि पत्र लिखने वाले का 'अहं', जिसे पत्र लिख रहे हैं, उसके प्रति उमड़ने वाले स्नेह में डूब जाता हैं। इसलिये इस प्रकार का साहित्य 'अहं', की अतिशयता के कलंक से बच जाता हैं और उसमें अभिव्यक्ति गंगा-जल-सी निर्मल और स्वच्छ होती है। निस्संदेह पत्रों में लेखक अपने अनुभव और बुद्धि द्वारा अपनी अनुभूति की गहराई में संचित किया हुआ आलोक अपने भीतर के स्नेह से धो-धो कर अपने स्नेह-भाजन को देना चाहेगा। इन पत्रों में लेखक का केवल आलोकमय व्यक्तित्व ही मिल सकता है, उसके दोषों की छाया नहीं। इस प्रकार के पत्र अपने में ही डूब कर नहीं, बल्कि कुछ सचेत भाव से लिखे जाते हैं। पंडित नेहरु की पुस्तक विश्व-इतिहास की झलक (Glimpses of the World History) पत्र-साहित्य का एक ऐसा ही आलोक-स्तम्भ है।

हम जिसे पत्र लिख रहे हैं उसके प्रति हमारा क्या भाव है, इसका प्रभाव भी पत्र-साहित्य पर पड़े बिना नही रहता। यदि वह हमारे श्रद्धा और सम्मान का पात्र है, तो बहुत-सी बातें जो उपर्युक्त स्थिति में हम अपने स्नेह-भाजन को लिख सकते थे, इस स्थिति में नहीं लिख सकेंगे और यदि लिखेंगे भी, तो उसी तरह ही नहीं। हो सकता हैं श्रद्धा और सम्मान की छाया में अभिव्यक्ति के अंकुर अपने पूर्ण यौवन में न लहलहा सकें और यह भी सम्भव है कि पत्र लिखने वाला अपने व्यक्तित्व की उजली रेखाओं के प्रदर्शन की लालसा में फंस, अपने 'अहं' के संकीर्ण वृत्त में ही चक्कर काट कर रह जाए। इस प्रकार के पत्रों में श्रद्धेय व्यक्ति का व्यक्तित्व पत्र लिखने वाले की भाव-लहरियों को उच्छृंखल

होने से रोक सकता है, पर साथ ही एक भय भी है कि कहीं उनका गला न घुट जाए ।

तीसरे प्रकार के पत्र मित्रों में लिखे जा सकते हैं, उनमें जहाँ किसी का भी व्यक्तित्व बड़ा छोटा नहीं होता, वहाँ यदि उन दोनों के मन, बुद्धि और चेतना के स्तरों में भी विशेष अन्तर नही है, तो दोनों के व्यक्तित्व परस्पर फेंकी हुई किरणों को बराबर शक्ति से लौटाने वाले दर्पण होंगे और उनसे उत्पन्न होने वाला साहित्य बड़ा ही शक्तिशाली होगा। उस साहित्य में प्रेम की उर्वर भूमि से फूट कर वही हुई सरसता भी होगी और सौभाग्य से यदि उन दो मित्रों में एक स्त्री है और दूसरा पुरुष है, तो उन पत्रों के साहित्य में कोमलता और मधुरता का प्राधान्य होगा। बंगाली में अभी एक 'यायावर' नामधारी किसी लेखक की एक पत्रों की पुस्तक 'दृष्टिपात' निकली है। बंगला साहित्य में इसकी काफी प्रशंसा हुई है और सुना है, देहली-यूनिवर्सिटी ने लेखक को इसके लिए पुरस्कृत भी किया है। मेरी दृष्टि में इस पुस्तक के इतना अच्छा होने का कारण लेखक की अपनी प्रतिभा तो है ही, साथ ही वे पत्र लेखक ने एक अपनी स्त्री-मित्र को लिखे हैं, इसलिए भी उसके व्यक्तित्व के दर्पण ने उस प्रतिभा की किरणों को पूर्णिमा की चाँदनी की तरण छिटका दिया है।

प्रेमियों के पत्रों की अपनी अलग विशेषता होती है। प्रेम-पत्र लिखने के लिए प्रेमियों का मन जितना आकुल रहता है. उतना ही उनको दुनिया की दृष्टि से छिपाने के लिए सतर्क भी रहना पड़ता है। कभी कभी तो देखा यह गया है कि जब दुनिया का कोलाहल सो जाता है, तभी प्रेमियों का क्रन्दन जागता है और हलके प्रकाश की छाया में वे पत्र लिखते लिखते ही रात बिता देते हैं। इन पत्रों के लिखने में ही एक इस प्रकार के रस की सृष्टि होती है कि लेखक न तो थकता है न ऊबता है, न उसे भूख लगती है और न प्यास ही सताती है। प्रेम-पत्र लिखने के लिए लेखक के पास भीतर-बाहर की इतनी प्रेरणा होती है कि वह अपने बहुत अधिक व्यस्त जीवन में से इस काम के लिए कुछ क्षण अवश्य निकाल लेता है। नेपोलियन को युद्ध-कार्यों से ही दिन-रात अवकाश नहीं मिल पाता था, फिर भी उसने उस जीवन में से कुछ क्षण निकाल कर अपनी प्रेमिका

की पत्र लिखे हैं और साहित्य की दृष्टि से वे पत्र भी उतने ही सफल हैं, जितना सफल एक वीर सेनानी के रूप में वह स्वयं था। प्रेमियों के पत्रों में भाव की अतिशयता और चिन्तन की न्यूनता स्वाभाविक है, पर उनमें रस और रोचकता की कमी नहीं होती। उनमें साहित्य-चेतना का पंछी अपने सशक्त पंखों से मुक्ताकाश में नहीं उड़ पाता, बल्कि उसकी दशा उन तितलियों की सी हो जाती है, जिनके पंख फूलोंके परिमल में सन जाने से बोझिल हो जाते हैं। यही कारण है कि कुछ प्रेम-पत्र, गद्य-गीत का रूप ग्रहण कर लेते हैं। कभी कभी भावावेश, उन्माद और पागलपन की सीमा को भी छू लेता है। ऐसे पत्रों में भावुक व्यक्ति तथा सामान्य पाठक को बहुत आनन्द मिलता है। पर गम्भीर चिन्तनशील प्राणी को निराश होना पड़ता है। ऐसा पत्र-साहित्य लोकप्रिय तो अवश्य हो सकता है, किन्तु लोक-चेतना का माप-दण्ड नहीं हो सकता।

प्रेमियों के पत्र दुनिया की दृष्टि से तो छिपाये ही जाते हैं, पर कभी कभी एक प्रेमी अपनी प्रेमिका से और प्रेमिका अपने प्रेमी से भी छिपाना चाहती है। प्रेम-पत्र लिख लिये जाते हैं, पर उन्हें भेजा नहीं जाता। कभी कभी ऐसे प्रेम-पत्र साहित्य की दृष्टि से अद्वितीय पाये गए हैं। इन पत्रों में कुछ न कुछ ऐसा अवश्य होता , जो प्रेमी अथवा प्रेमिका के हाथ को पत्र लिखने के बाद बांध देता है। ऐसे पत्रों के विषय में प्रसिद्ध उपन्यासकार डिकोबरा लिखता है–'प्रेम-पत्र जो लिखने के उपरान्त भेजे नहीं जाते, वे उन बन्धी चिड़ियों की तरह हैं, जो अपने दुःख के गीत मौत के पिंजड़े में ही गाती रहती हैं और उस गीत के मधुर स्वर उस सीमा के बाहर नहीं पहुँच पाते।'

प्रेम-पत्रों की तरह खुली चिट्ठियों (Open letters) की भी अपनी विशेषता होती है। प्रेम-पत्र यदि दुनिया से छिपा कर लिखा जाता है, तो खुली चिट्ठी दुनिया के सामने रख कर और दुनिया के लिए लिखी जाती है। ऐसी चिट्ठियाँ अधिकतर देश की सार्वजनिक समस्याओं को लेकर लिखी जाती हैं। इसलिए उनका राजनैतिक महत्व अधिक होता है। फिर भी कुछ साहित्यिकों द्वारा लिखी हुई खुली चिट्ठियां आज भी साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती हैं, जैसे रूसी लेखक बेलेन्स्की द्वारा गैगोल को लिखा हुआ पत्र। जालियानवाला

बाग के हत्याकॉड पर रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा, अपनी 'नाइटहुड' की पदवी त्यागने के समय, भारत के वायसराय को लिखी हुई 'खुली चिट्ठी' आज भी अपना एक विशेष स्थान रखती है। इधर इल्या एहरनवर्ग की खुली चिट्ठियाँ भी कभी कभी पत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं।

पत्र-साहित्य उच्च कोटि का हो, यह पत्र लिखने वाले की प्रतिमा पर तो निर्भर है, साथ ही जिस व्यक्ति को पत्र लिखे गये हैं, उसका व्यक्तित्व भी उस पत्र-साहित्य पर अपनी छाया डाले बिना नहीं रहता। वह व्यक्तित्व उस दर्पण का काम करता है, जिस पर लिखने वाले की प्रतिभा की किरणें, अदृश्य रूप से टकरा कर, या तो अपनी शक्ति और प्रकाश का कुछ अंश खो देती हैं या अधिक शक्तिशाली अथवा प्रकाशमान होकर लौटती है। इसलिए वह दर्पण जितना उजला और सक्षम होगा, उतना ही अच्छा होगा।

अपनी बात को दूसरे तक पहुंचाने के मार्ग में बाह्य जगत के इतने स्थूल परत पड़ते हैं कि जो कुछ हम सोचते हैं, उसे ज्यों का त्यों दूसरे व्यक्ति के सामने नहीं कह पाते। पर वही बात लिखित रूप में अधिकाधिक ज्यों की त्यों प्रकट की जा सकती है। इसलिए पत्र का माध्यम अधिक उपयोगी है। बात यह है कि लिखते समय व्यक्ति सामने नहीं रहता उसका व्यक्तित्व सामने रहता है। इसलिए, देखा गया है कि लज्जा के मारे अपने पाप-पुण्य की बहुत सी गाथाएँ जो कही नहीं जा सकती हैं, वे पत्रों में लिखी जा सकती हैं। प्रायः देखा गया है कि आत्म-हत्या करने से पहले लोग बड़े बड़े सुन्दर पत्र लिखकर छोड़ गये हैं।

पत्र-लेखक, पता नहीं किस दिन किस 'मूड' में रहता है : अतः पत्र-साहित्य में विभिन्न मूड्स का चित्रण तथा विषयों की विविधता का होना स्वाभाविक ही है।

पत्र दो प्रकार से लिखे जाते हैं–एक तो सहज भाव से (unconsciously) और दूसरे सोच-समझ कर अर्थात जागरूक (conscious) रह कर। जब पत्र लिखने वाले पहले से ही तय कर लेते हैं कि हम अमुक विषय पर पत्र-व्यवहार करेंगे और वे पत्र फिर पुस्तकाकार प्रकाशित भी होंगे, तो उन पत्रों में जागरूकता (consciousness) का भाव आ जाता है और तब पत्र, पत्र न रह कर, निबन्ध

अधिक हो जाते हैं। एक बार मेरे एक परिचित साहित्यिक ने अपनी पत्नी को नीचे की मंजिल में रहने के लिए कह दिया और आप ऊपर की मंजिल में रहने लगे। तय यह हुआ कि एक दूसरे से मिलेंगे नहीं और पत्रों द्वारा ही बातचीत करेंगे। सब कुछ जान कर मैं सोचने लगा कि इससे तो पत्नी को मायके ही भेज दिया जाता, वही अच्छा होता। उससे स्थिति में थोड़ी-सी स्वाभाविकता आ जाती। श्री रामनाथ 'सुमन' द्वारा लिखे हुए 'भाई के पत्र बहिन को' भी इसी प्रकार के पत्र हैं।

किन्तु प्रथम प्रकार के पत्र अनायास ही जीवन-क्रम में सहज भाव से लिखे जाते हैं। उनके छपने-छापने तथा विषय आदि बात मन के किसी कोने में भी नहीं रहती।

सचेत होकर लिखे गये पत्रों में ज्ञान, दर्शन और अध्ययन की गहनता हो सकती है, पर अनुभूति की गहराई, स्वाभाविकता और सजीवता नहीं होती। सहज भाव से लिखे गये पत्रों में हो सकता है, कोई विशेष विषय-क्रम न हो और वे वर्षा में उगे हुए उच्छृंखलता और स्वच्छन्दता से लहलहाते हुए पौधे की भांति क्यों न हो, पर निश्चय ही उसमें शक्ति, जीवन और यौवन बहुत अधिक मात्रा में होगा। ऐसे पत्रों के छपने की यदि बात उठे, तो उन पत्रों का संपादन कर, उन्हें छपाने के लिये भी वैसा ही कलात्मक रूप दिया जा सकता है, जैसे माली अपने आप लगी हुई बाढ़ को काट छाँट कर उसे सुन्दर रौंस का रूप दे देता है।

कोई विरला कवि भले ही पद्य में पत्र लिखता हो, पर प्रायः आजकल सभी पत्र गद्य में लिखे जाते हैं। अत: गद्य के भीतर आने वाले कुछ साहित्य-सृजन के माध्यमों को पत्र लेखन के भीतर भी खपाया जा सकता है, जैसे पत्रों के माध्यम से हम गद्यगीत, कहानियाँ, रेखाचित्र, संस्मरण इन्टरव्यू तथा स्केच इत्यादि लिख सकते हैं। अभी तक पत्रों के माध्यम से कहानियाँ ही अधिक लिखी गयी हैं। दूसरी सम्भावनाओं पर हिन्दी के लेखकों की दृष्टि अभी नहीं गयी है।

कुछ विषयों के लिये पत्रों का माध्यम विशेष महत्त्व रखता है। उदाहरण के लिये यात्रा वर्णन, पत्रों द्वारा अधिक सुन्दर, सरस और सजीव लिखे जा सकते हैं। गुजराती में श्रीमती लीलावती मुंशी के पत्र, 'यूरोप ना पत्रो' (यूरोप के पत्र)

तथा बंगला में रवीन्द्रनाथ टैगोर की 'रूसेर चिट्ठी' इसी प्रकार का महत्त्वपूर्ण साहित्य है।

हिन्दी में पत्र-प्रणाली के माध्यम से लिखी गयी कहानियों को छोड़ कर विशुद्ध पत्र-साहित्य नहीं के बराबर है। 'पति-पत्नी के पत्र' 'चन्द हसीनों के खतूत' इत्यादि तीन-चार पुस्तकों के नाम सुनने को मिलते हैं, पर इनमें से कोई भी पुस्तक उच्चकोटि का साहित्य नहीं कही जा सकती।

प्रत्येक साहित्य के सम-सामयिक कलाकारों में परस्पर तथा अपने पाठकों से पत्र-व्यवहार चलता रहता है, पर इस पत्र-साहित्य के प्रति सदैव से हम इतने उदासीन रहे हैं कि उनको प्रकाश में लाने का प्रयत्न करने की अपेक्षा उनको छिपाने में [अधिक सतर्कता से काम लिया है। इस प्रकार के पत्र कलाकार के जीवन साहित्य और उसके कार्यों पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकते हैं। बंगला में अभी कुछ दिन हुए शरत्चन्द्र के पत्रों का एक ऐसा ही संकलन निकला है। हमारे यहाँ बहुत वर्ष हुए बाबू महावीर प्रसाद द्विवेदी के पत्र प्रकाशित हुए थे। इधर भी 'निराला जी' द्वारा श्री जानकीवल्लभ शास्त्री को लिखे हुए पत्र भी धारावाहिक रूप में माधुरी में छप रहे थे, पर अभी इन दोनों महान् साहित्यिकों के पत्र पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हुए। इसी प्रकार के लिखे हुए प्रेमचन्द, प्रसाद महादेवी और पंत के पत्रों के संकलन भी यदि प्रकाशित हों, तो पाठकों को उनका जीवन और साहित्य समझने के लिए नवीन आलोक और नवीन दिशा मिल सकती है।

— : —

भगवान महावीर के सिद्धान्त—आज के सन्दर्भ में

डा० सरोज मार्कन्डेय

काल धारा प्रवाह क्रम में इक्कीसवीं शती के कगार पर खड़ी मानवता के लिये भगवान महावीर के सिद्धान्तों की प्रासंगिता और उपादेयता यह हमारी वार्त्ता का विषय है ! यह ठीक है कि उनकी वाणी शाश्वत सत्य को, शाश्वत मूल्यों को उद्‌घाटित करती है किन्तु उस शाश्वत सत्य में ही आज की समस्याओं का समाधान निहित है। यों भी शाश्वत समस्या तो सब देश व सब काल में एक ही है अर्थात् सुख की खोज और दुख से निवृत्ति। इसके लिये सभी प्रयत्नशील भी रहते हैं, यह दूसरी बात है कि यह नहीं जानते कि सुख क्या है ? सुखी होने का सच्चा प्रयास क्या है ? यों भी सुख किसी भौतिक पदार्थ में तो निहित होता नहीं। सच्चा सुख तो मानसिक जगत में ही उपलब्ध हो सकता है। अन्तर में राग-द्वेष मोह की ज्वाला में जलते रहने की दशा में सुख कहाँ ? आभ्यन्तर के सुख की प्रतीति के लिये तो हमें धर्म, धार्मिक आस्था तथा आदर्श प्रधान जीवन शैली की आवश्यकता है तभी हम न केवल अपने लिये वरन् समस्त विश्व के लिये सुख शान्ति व समृद्धि की कामना कर सकते हैं :

धर्म आस्था व आदर्श किसी मनोराज्य की कल्पना नहीं व्यवहार व जीवन के उपादेय तत्व होते हैं। प्रत्येक युग व काल में उपादेयता का स्वरूप परिवर्तित हो सकता है। इसलिये युग व काल की आवश्यकतानुसार चिरन्तन शाश्वत जीवन मूल्यों को उपादेयता की कसौटी पर कसना ही धर्म है। राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, जीसस क्राइस्ट, मुहम्मद साहब, गुरुनानक, महात्मा गांधी ऐसे ही युग पुरुष किंवा काल पुरुष है जिन्होंने अपने जीवन के व्यक्तित्व व कृतित्व से अपने युग की पीड़ित व संतप्त मानवता के लिये व्यवहारपरक आदर्शों का पथ प्रशस्त किया।

भगवान महावीर के सिद्धान्तों का निरूपण करने से पूर्व शंका उत्पन्न होती है कि उनके सिद्धान्तों का स्वरूप क्या हो क्योंकि वे तो निर्ग्रंथ है ग्रन्थ व पंथ से

परम्परा और प्रक्रिया से परे। वैयक्तिक स्तर पर जिसे उन्होंने सत्य जाना उसे ही अपने जीवन में अपनाया। पूर्ण स्वतन्त्रतापूर्वक दूसरे को भी अपना साध्य चुनने की छूट का समर्थन किया। इसलिये न तो उन्होंने कोई वाद चलाया, न अनुयायियों की भीड़ इकट्ठा की। किसी शास्त्र की भी रचना नहीं की। जिन्हों ने उनके स्वरूप को पहचाना वे स्वयं महावीर हो गये। इसके लिये न कोई कर्म-काण्ड चाहिये न किसी का अनुसरण समर्पण। इसलिये भगवान महावीर को समझाने के लिये उनके जीवनक्रम को, उनकी चिन्तन पद्धति को जानना आवश्यक है।

भगवान महावीर का जीवन भाग्यवादी नहीं वरन् पुरुषार्थ व कर्मवाद का जीवन्त स्वरूप है। क्षत्रिय राजवंश में जन्म लेकर भावी शासक बनना उनके लिये पुरुषार्थ नहीं था। उनके लिये सच्चा पुरुषार्थ था 'स्व' का विकास अर्थात् आत्म विकास का वह स्वरूप जो द्वन्द्वातीत है रागातीत है। उदात्त व्यक्तित्व के स्वरूप हेतु उन्होंने रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यक-ज्ञान और सम्यक चरित्र की पुष्टि की जिसे पँचव्रत व दशधर्म के अनुसरण से परिष्कृत किया। उनका विचार था कि ईश्वर है अथवा नहीं इसकी चिन्ता छोड़कर आत्मपरिष्कार का प्रयास समीचीन है।

धर्म के कर्म काण्ड को निरर्थक मानकर उन्होंने धर्म के वाह्य तत्वों की अपेक्षा व्यक्ति की सुप्त व लुप्तप्राय श्रेष्ठ शक्तियों के उन्नयन पर बल दिया। आत्मवत् सर्व भूतेषु, अहिंसा परमो धर्मः और जीओ व जीने दो की आप्तवाणी से उन्होंने जड चेतन, धनी, निर्धन बड़े छोटे सभी को अपना भाग्य-विधाता स्वयं बनने का आह्वान किया। स्वयं उनका अपना जीवन युवराज वर्द्धमान से भगवान महावीर तक की विकास यात्रा का आत्मलोचन, चिन्तन व दर्शन की वैज्ञानिक व विकासोन्मुख प्रक्रिया है। नर से नारायण बनने का यह यात्रा-क्रम किसी दिग्दर्शक की उंगली पकड़ कर किसी काल पुरुष के अनुयायी बनकर प्राप्त नहीं की जा सकती। विकास का यह पुरुषार्थ प्रगतिशील तो है ही क्रान्तिकारी भी है! इसी को सर्वोदय अथवा अन्त्योदय का तीर्थ माना जा सकता है।

धर्म क्या है? चिरन्तर प्रश्न की व्याख्या भगवान महावीर ने धम्मोवत्थु-सहावो अर्थात धर्म किसी व्यक्ति या वस्तु का स्वभाव है, से की है। धर्म है

कल्याण और कल्याण है ममत्व या अस्मिता का विसर्जन। धर्म बुद्धि का ऐसा आविष्कार है जो अपने द्वन्द्वातीत भावातीत रूप में मन की वृत्तियों को परिष्कृत करता है।चिन्तन का यह स्वस्थ स्वरूप किसी प्रकार के पूर्वाग्रह अथवा वैचारिक दवाव के आधीन नहीं है। बात को समझो, देखो और जी चाहे तो अंगीकार करो यह महावीर वाणी है। वैचारिक दासता से मुक्त स्वाधीन चेतना का यह मार्ग स्थावर संगम सभी के लिये समान है। उन्होंने धर्म और विज्ञान को एकाकार करके धर्म को स्वानुभूति को विज्ञान का विषय बनाया। आज का वैज्ञानिक दृष्टिकोण ज्ञान को सर्वोच्च शक्ति बताता है, किन्तु महावीर स्वामी ने आज से २५०० वर्ष से भी पूर्व जाना कि ज्ञान की शक्ति अपरिमेय है, ज्ञान की आँच खरी आँच है। अतः ज्ञान प्राप्ति व स्वाध्याय ही तप है। शक्ति है। ज्ञान उनके लिये मात्र जानना नहीं वरन् जानना और समझना है। इसलिये सम्यक् ज्ञान रूपी रथ के दो चक्र हैं सम्यक् दृष्टित्व व सम्यक् चरित्र अर्थात् जिसे प्यास लगी है वही पानी खोजने की दिशा में बढ़ेगा, जो पानी खोजेगा, वही पहचानेगा और आवश्यकतानुसार पियेगा। यही धर्म का वैज्ञानिक स्वरूप है।

धर्म व विज्ञान के तादात्म्य द्वारा ही उन्होंने यह भी जाना कि तप शरीर ताड़न नहीं वरन् सत्यान्वेषण की अपूर्व पद्धति है इसलिए सृष्टि के गूढ़ रहस्य जिज्ञासु की आँख द्वारा नहीं वरन् सच्चे विश्लेषक की दृष्टि द्वारा ही जाने जा सकते हैं। जो है जिसकी सत्ता है वही द्रव्य अर्थात् मैटर है सृष्टिक्रम छह द्रव्य जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल में समाविष्ट है। पुद्गल द्रव्य द्रव्य द्वारा पूरण व गलन को प्रक्रिया द्वारा परिवर्तित सृष्टि का यह क्रम सात तत्व— जीव, अजीव, कर्म, आसव, संवर, निर्जरा, मोक्ष से कर्म अर्थात् अपूर्व सत्यान्वेषण में समाहित है जिसे स्निग्ध, रुक्ष, रूप में शक्ति पुत्रों के बंधन मोक्ष के द्वारा जाना जाता है। महावीर के सिद्धान्त में पंचाणु व्रत का भी अत्यधिक महत्व जानना चाहिये। पंचव्रत के रूप में सत्य, अहिंसा अस्तेय, अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य को नैष्ठिक मर्यादा में स्वीकारते हुए उन्होंने इन गुणों के संबर्धन को आत्म-परिष्कार साधन बनाया। उन्होंने भोग व आध्यत्म को परस्पर विरोधी दिशाओं में अद्भुत संतुलन स्थापित करने के लिये ही श्रावक व श्रमण की सीमा रेखा निर्धारित की।

पंचव्रत के अंशतः पालन को अणुव्रत व सर्वांशतः रूप में पालन को महाव्रत की संज्ञा देकर उन्होंने सभी वर्ग व श्रेणियों के व्यक्तियों के लिये चेतना का विकास स्पष्ट किया। धर्म अथवा आत्मा का विकास किसी जाति विशेष की उपलब्धि नहीं क्योंकि जन्म से जाति वैशिष्टय नहीं है–

कम्मुणा वमन होइ, कम्मुणा होई सत्तिओ,
बइसो कम्मुण होइ, सुद्धो हवइ कम्मुण।"

अतएव मानव कर्म द्वारा 'स्व' 'पर' का त्याग एवं आत्म निग्रह द्वारा चेतना के विकास पथ को लोकतांत्रिक बनाने व सर्व जन सुलभ स्वरूप प्रदान करने मे पंचाणु व्रत का बहुत महत्व है। पंचाणुव्रत का प्रथम व्रत है सत्य अर्थात् अनुभूति और आचरण का तादात्मय। अनाग्रह और सहिष्णुता पर आधृत सत्य पक्ष का ज्ञान एकान्त अर्थात् विग्रह के स्थान पर अनेकान्त अर्थात् मैत्री की भावना विकसित करता है। सत्य के स्वरूप की यह उद्घाटन पद्धति, व्यक्तित्व बोध का यह चिन्तन वैज्ञानिक सापेक्षवाद का जनक है। यानी सत्य को उसके समग्र रूप में जानो। अनेके अन्तः धर्माः यस्मिन स अनेकान्तः सत्य शोध की ही वैज्ञानिक प्रक्रिया है। अनेकान्त अर्थात अपेक्षा अर्थात विभिन्न पक्षों व मतों का संतुलित रूप। अनेकान्त वे इस पक्ष को स्याद्वाद के संचेतक अर्थात् whip द्वारा जानना ही तार्किक विधि है। हाथी क्या है ? सूप, सर्प, खम्भ, अथवा इन सबका संयुत रूप ? सीता कौन है ? राम की पत्नी, जनक की पुत्री, कौशल्या की वधू, लक्ष्मण की भाभी, लव कुश की माँ। उत्तर अपेक्षा पर आधारित है अर्थात् एक भी अनेक भी। सीता राम की पत्नी है किन्तु पत्नी ही नहीं पुत्री भी है जनक की। वस्तु का भी से ही तक का क्रम संशय नहीं वरन् आत्मानुशासन की उचित भावभूमि में ही सम्भव है। सत्यान्वेषण की यह निरपेक्ष दृष्टि सर्व धर्म समन्वय व लोकतन्त्र जैसे मूल्यों की प्रतिष्ठा कर सकती है। सत्यान्वेषण कीं ऐसी सहिष्णु व लोकपरक दृष्टि ही आज विश्व के अनेक संघर्षों कलह व विवादों का समाधान कर सकती है। इतिहास साक्षी है कि जब २ धार्मिक आग्रह असहिष्णु हो जाता है तब वह अपने प्रचार व प्रसार के लिये हिंसा का आश्रय लेता है। आज विश्व के कलह और रक्तपात को मिटाने के लिए भगवान महावीर की इस

समन्वयवृत्ति व सहअस्तित्व की भावना के प्रसार की ही आवश्यकता है। अपने देश में व्याप्त बाबरीमस्जिद, खालिस्तान, गोरखाआन्दोलन, तमिल समस्या आतंकवाद जैसी विषम समस्याओं का समाधान भी भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादिता इसी अनेकान्त दृष्टि व बुद्धि से सुलझाना सम्भव है। इसलिये आवश्यकता है इस सम्यक दृष्टिबोध की। परिणाम स्वतः सिद्ध है।

जागे विवेक जागे चेतन जागे जीवन कल्याण मन्त्र,
सब राजनीतिओं भेद नीति से कर मानव को फिर स्वतन्त्र।

पंचाणुव्रत का दूसरा व्रत है अहिंसा। अहिंसा कायरता या क्लीवता कदापि नहीं वरन् अहिंसा तो पुरुषार्थ है। उन्होंने मात्र शस्त्र न उठाने को अहिसा नहीं जाना वरन् व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास में जो मारक व निषेधात्मक पक्ष है, उन तत्वों अर्थात् रागद्वेष, अहंकार, जैसे मनोमालिन्य से आत्मा की रक्षा को अहिंसा बताया। इसलिये देश समाज, घर-बार, माँ बहन धर्म और धर्मायतन की रक्षा के लिये तलवार उठाना भी उनके लिये अहिंसा ही है हिंसा नहीं। उन्होंने हिंसा के चार स्तर स्पष्ट किये यथाआरम्भी हिंसा, उद्योगी हिंसा, विरोधी हिंसा और संकल्पी हिंसा। यों तो सभी प्रकार की हिंसा, से बचना चाहिये किन्तु संकल्पी हिंसा अर्थात् जानबूझ कर प्रयोजनवती हिंसा का ही सर्वाधिक निषेध किया। उनका मत है कि किसी का मन तलवार की धार से नहीं पलटा जा सकता। अज्ञान तो ज्ञान से ही कटता है किन्तु हमने उसे तलवार से काट कर धर्म का विरोध ही किया है। संघर्ष अज्ञान का कारण है और उसमें अहिंसा अनिवार्य है। हिंसा प्रतिहिंसा को जन्म देती है। इस दुष्चक्र को भेदने के लिये दूसरे के अस्तित्व के प्रति सहनशील होना चाहिए इस सिद्धान्त की सर्वाधिक उपयोगिता आज विश्व शान्ति के प्रयास में है। आणविक तथा अन्य सभी अधुमतम शक्तियों को अन्य प्रतिरोधी शक्तियों द्वारा नाश की सम्भावना से बचने के लिए परस्पर विरोधी शक्तियों को जीओ और जीने दो के सिद्धान्त के आधार पर ही संतुलित रहना होगा। पूँजीपति समाजवादी भेद, प्रभेद से परे मानव हित को सर्वोपरि स्थान देना होगा। अहिंसा परमो धर्मः के रूप में ही जीवन का अस्तित्व सुरक्षित रह सकता है।

तीसरा व्रत है अचौर्य अर्थात् अस्तेय ! जिसका कोई स्वामी नहीं ऐसी मिट्टी और जल को छोड़कर कोई भी पदार्थ उसके लौकिक स्वामी की अनुमति बिना ग्रहणत्न न करने का व्रत ही अचौर्याणु व्रत है।

अपरिग्रह को ममत्व पर प्रहार बताते हुए भगवान महावीर ममत्व से समत्व के विकास की समाजवादी व्यवस्था का द्वार खोलते हैं। स्वयं के प्राप्य का विसर्जन कर सामाजिक व आर्थिक समत्व प्राप्त करना भी पुरुषार्थ है। भौतिक भोगमय दिशा असीम है और अनन्त भोग उसका लक्ष्य है। भोग से आसक्ति मिटती नहीं वरन् प्रज्जवलित होती है क्योंकि —

"भोगने से कब घटे है रोग रूपी राग,
और बढ़ती है निरन्तर ईंधनों से आग"

स्वतः त्याग द्वारा इस भौतिक दिशा को आध्यात्मिक दिशा में बदलना होगा तभी लोलुपता व आसक्ति का नाश सम्भव होगा। घर परिवार, प्रान्त, समाज सब में सुख और शान्ति तभी रह सकती है जब धन का, शक्ति का संचय न करके उसे त्याज्य समझते हुए सीमित कर दिया जाये। जो कार्य आज ट्रस्टीशिप की भावना द्वारा गांधीवादी नहीं कर पाये, समाजवादी विचारधारा न कर पायी उसे महावीर के अपरिग्रह द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। मार्क्सदर्शन द्वारा जिस आर्थिक समता हेतु रक्तपात की अनिवार्यता को स्वीकारा गया है, उसे अपरिग्रह के स्वानुशासन द्वारा बिना रक्तरंजित कान्ति के ही पाया जा सकता है। आज हमारी आर्थिक समस्याओं के समाधान हेतु विशेषतया विकसित व विकासशील देशों के भेद को दूर करने हेतु इसकी प्रासंगिकता है।

इन सभी आदर्शों को पाने का एक मात्र उपाय है ब्रह्मचर्य व्रत ब्रह्मचर्य का अर्थ स्वपति व स्वपत्नी के अतिरिक्त अन्य किसी नर-नारी में अनुरक्ति न रखना तो है ही इन्द्रीयदमन के माध्यम द्वारा सभी लालसाओं व तृष्णाओं पर विजय है। इसलिए उन्होंने 'अप्पाचेव दमये धो' पहले अपना दमन करना चाहिये ऐसा स्वीकार किया। ब्रह्मचर्य के इस व्रत द्वारा नर-नारी समता के आदर्श को भी व्याख्यित किया।

उन्होंने लोकेष्णा अर्थात् स्वयं की प्रतिष्ठा, आदर सम्मान को भी निरर्थक

बताया। इसीलिये न तो उन्होंने अपना पंथ चलाया न अपनी पूजा प्रतिष्ठा को महत्व दिया। आस्था के रूप में लोकहितार्थ उन्होंने जिस प्रार्थना पर बल दिया वह है—

णमो अरंहताणं, णमो सिद्धाणं, णमों आइरियाणं णमो उव्झायणं, णमों लोए सव्वसाहूणं।

सभी अरंहत सभी सिद्ध, सभी आचार्य, सभी उपाध्याय सभी साधु जन के प्रति नमन की यह भावना व्यक्तिपरक न होकर जनवादी एवं लोक परक है, आज के धर्मान्ध एवं साम्प्रदायिक विषाक्त वातावरण में जन हिताय, जनतन्त्र के जन को अक्षत बनाये रखते की यह भावना सर्वधर्म समन्वयकारी तो है ही। क्या यह विश्व धर्म की परिकल्पना नहीं? महावीरवाणी में इसी जन गण मन का वन्दन है।

सच तो यह है कि संस्कृति व विकास के कोढ़ में हमने मानव, मानव के वीच अनगिन दीवारे खड़ी करली हैं वर्णभेद, रंगभेद, जातिभेद, कुल भेद धर्मभेद, प्रान्त व देश भेद पर आधारित यह दीवरें समस्त विश्व में तनाव, शंका अविश्वास व घुटन के वातावरण की सृष्टि करती हैं। समता, स्वतन्त्रता सह—अस्तित्व और सहिष्णुता पर आधारित भगवान महावीर के आचरण व सिद्धांतों द्वारा ही हम इस विषाक्त वातावरण को दूर कर सकते हैं। जड़, चेतन में समान तत्व द्वारा वनों की रक्षा के माध्यम में पर्यावरण प्रदूषण रोक सकते हैं उनके द्वारा व्यक्त ईर्ष्या समिति द्वारा लोकहित में जाग्रत व प्रबद्ध रहकर अनर्गल असंयत निरुद्देश्य भाषा पर संयमन के द्वारा भाषा पर नियमन कर सकते हैं आदान निपेक्षण समिति व उत्सर्ग समिति के आदर्श द्वारा सचेत नागरिकता का निर्वाह कर सकते हैं।

इस प्रकार भगवान महावीर का सर्वोदय अर्थात् सबके उदय का सिद्धान्त लोक संग्रहपरक समता की दृष्टि से उपादेय है तो खण्डन मडन की शैली से परे अनेकान्त का वैज्ञानिक सत्यान्वेषण विश्व धर्म की पीठिका प्रदान करता है। अहिंसा पर आधारित सार्वकालीन मैत्री का सिद्धान्त विश्व शान्ति की स्थापना कर सकता है। उनकी उदार चिन्तन पद्धति अपनी प्रगतिशील चेतना द्वारा अंध

विश्वास व रूढ़ियों का विरोध करती हुई उत्तमता और औचित्य के बल पर अपनी जनतन्त्रात्मक शैली में आत्मजितों के धर्म की, सज्जन बृन्द के धर्म की परिकल्पना करती हुई मानव के स्वर्णिम विहान का साधन, दलितों के उत्थान द्वारा जुटाती है। साध्य व साधन की यह एकरूयता सुख-दुख की द्विविधा समाप्त कर भौतिकता से आध्यात्म की ओर प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर, भाग्य से पौरुष की ओर युद्ध से शान्ति की ओर विरोध वैशम्य से मैत्री की ओर मुड़ने वाला भगवान महावीर का यह दृष्टिबोध हमारे युग व परिप्रेक्ष्य में तो उपादेय है ही भविष्य में भी दिशा बोध प्रदान करेगा यही इन सिद्धान्तों की मूल्यवत्ता है। ऐसे शाश्वत पुरुष भगवान महावीर को मेरा शतशः नमन।

— + —

सन्त कबीर के सम्बन्ध में प्रचलित लोक कथाएं और जनचेतना

डा० सरोज मार्कण्डेय

सन्त कबीर भारतीय जनजीवन के उद्घोषक, प्रचारक और उन्नायक थे। वे समाज व लोकजीवन के साथ रहे संरक्षक और पहरेदार बनकर। मध्य युगीन जनजीवन में जिस समय कबीर का अविर्भाव हुआ वह निराशा, कुंठा व संघर्ष का युग था। देश में हर तरफ असंतोष और पतन की स्थिति थी। न तो समाज को अपने पर भरोसा था न दूसरे का सहारा। अन्धेरे में अन्धेरा फैलाने वाले तो बहुत थे प्रकाश किसी के हाथ में न था। भयाक्रान्त भेड़ों की तरह इन्सान घरों में घुसा हुआ था असहाय और कमजोर आदमी दूसरों पर कम अपने बारे में अधिक सोचता है यही वह पतन की दिशा है जिसमें होकर सम्पूर्ण मध्य युग को गुजरना पड़ा। ऐसे में प्रकाश स्तम्भ और मार्ग दर्शक बनकर जनजीवन के हितार्थं कबीर अवतरित हुये। उन्होंने जनजीवन को आगे गिरने से बचाया और ठोकर लगने पर अफसोस प्रकट किया। उन्होंने समाज के जिस वर्ग को शीर्षस्थ महत्व दिया और वह चिरकाल से उपेक्षित और कमजोर रहा है। इन्हें घोर लौकिकता में डूबने उतराने के अलावा कोई रास्ता न सूझ पाया था 'अरे इन दोउन राह न पायी' के माध्यम से कबीर ने उन्हें भटकने से रोका। अंधेरे जंगल से उबार कर सही रास्ते पर खड़ा किया। ऐसे उपेक्षित बेगुनाह निरीह समाज के साथ सम्पृक्त कबीर लोक मंगल के साथ जनरुचि को जोड़ कर समाज व जीवन के व्याख्याता ही नहीं लोक रुचि व लोक जीवन के अधिष्ठाता हैं। परम्परा एवं जनजीवन से जुड़ कर उनका व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व लोकरुचि, लोकचेतना, लोकसंस्कृति व मानव मनोविज्ञान की अच्छी भाव भूमि अभिव्यक्त करता है। यों मौखिक परम्परा एवं किवदन्तियों व लोक कथाओं पर आधारित सन्त साहित्य अपने सामान्य स्वरूप में ही चमत्कार और बिलक्षण गुणों से पूर्ण रहा है किन्तु कबीर के सन्दर्भ में यह सभी तत्व निश्चित रूप से कबीर की

अलौकिकता महत्ता को व्यंजित करने के लिये लोक द्वारा एकाकार कर दिये गये हैं एक ओर समाज का उच्च वर्ग कबीर को तत्कालीन परिवेश में अस्वीकार करता रहा। उन्हें अनपढ़ संस्कारहीन तथा जाति व धर्म च्युत बताकर समाज ने उन्हें नकारा तो दूसरी ओर लोकरुचि, लोकजीवन व लोक-संस्कृति ने उन्हें सिद्ध पुरुष, अलौकिक अवतार, अलौकिक शक्ति के पुंज के रूप में व्यक्त किया। दोनों में कोई साम्य रेखा नहीं किन्तु दोनों ही परिवेश अपने मूल्यों सिद्धान्तों व उपलब्धियों में अलग दूसरे से कटे रहे। यदि पंडित वर्ग अभिजात्य समाज को कबीर की कोई चिन्ता नहीं तो लोकजीवन व जनचेतना उन्हें अपनाने, स्वीकारने व अवतरित पुरुष के रूप में उनके श्रेष्ठ तत्व को सिद्ध करने के लिये प्राण प्रण से प्रतिबद्ध है। फलतः कबीर के सन्दर्भ में अनेकों लोक कथाओं की रचना हुई जिसके माध्यम से उनके जन्म, जीवन समाज उपलब्धियों व मरण को एक अलौकिक चमत्कार बनाकर उनकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई। समाज का उच्च वर्ग अपनी समस्त प्राणवत्ता व शक्ति के साथ भी उनको काट नहीं सका, उसने उन्हें नकारा अवश्य किन्तु यह वर्ग तो सदा से ही हर नये मार्ग का विरोधी था परम्परा सेवी न आगे की सोचना, न पीछे की बातों को भुलाना जो रूप पड़ा मिला उसी को लात मार कर ध्वस्त किया। लोक–जीवन भला समाज की इस अमर वेल से क्या पोषण प्राप्त करता? उसको ध्वस्त करने, इसे आमूल नष्ट करने के लिये लोक रुचि जनजीवन ने एक दूसरा ही रास्ता अपनाया। यह रास्ता था जनमन के अनुरंजनार्थ लोक कथायें, लोक मानस में उनकी प्रतिष्ठा एवं श्रेष्ठता की व्यंजना करती हैं। हितोपदेश एव पंचतन्त्र की कथाओं के समान ही कवीर से सम्बन्धित यह लोक कथाएँ कल्याणकारी उपदेशों से भरपूर हैं। इनमें व्यक्त अमानवीय एवं आप्राकृतिक, अद्‌भूत वर्ण विषयों का स्वरूप लोक रुचि के तत्व यथा भूत-प्रेत, देवी-देवता अलौकिकता से युक्त हैं ऐसी कथायें लोक रुचि का आधार स्तम्भ लोक कल्याण एवं लोक मंगल की भावना से युक्त है। कथाओं में वर्णन की स्वाभाविकता, रहस्य रोमांच एवं अलौकिकता की प्रधानता आशावादी अन्त उनको जनचेतना के तत्वों से जोड़ते हैं।

१-सन्त कबीर के जन्म के सन्दर्भ में विभिन्न किवदन्ती व लोक कथाएँ प्रचलित हैं। सामान्यतग किवदन्ती है कि वे विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे जिसे स्वामी रामानन्द ने भूल से पुत्रवती होने का आर्शीवाद दिया था। कबीर के जन्म होने पर वह ब्राह्मणी नवजात शिशु को लहरतारा तालाब के पास छोड़ आई जिसे नीरु व नीमा मुसलमान जुनाहा दम्पत्ति ने उठा लिया और उसका लालन पालन किया। महाराज रघुनाथ सिंह की भक्तमाल रसिकावली में भी इसी घटना का वर्णन थोड़े अन्तर से उल्लेख किया है।

"रामानन्द रहे जग स्वामी"

तिनके ढिग विधवा इस नारी सेवा करै बड़ो श्रमधारी प्रभुहि कियो वदन बिनुदोसा। प्रभु कह पुत्रवती भरि घोषा। आदि। बहुत से श्रद्धालु कबीर पंथियों का मत है कि विधवा ब्राह्मणी की हथेली से जन्म लेने के कारण यह पुत्र करबीर (हाथ के पुत्र) या कबीर कहलाया। इसी कथा को अलौकिक एवं चमत्कारिक तत्वों से युक्त कर कबीर पंथी धर्मदास ने लिखा, घन गरजे दामिनी दमके, बुँदे बरसे झर लाग गये, लहरतार में कमल खिले तहं कबीर भानु प्रकट भये"।

इस प्रकार कबीर के जन्म की जनश्रुति विधवा ब्राह्मणी से जुड़ती है जिसमें लोक रुचि रंजक कई तत्व हैं—

१—रानानन्द का प्रभुत्व कि वे इतने प्रभावशाली थे कि अपने आर्शीवाद से पुत्रोत्पत्ति कर सकते थे।

२—कबीर पंथ में बहुत से हिन्दु भी थे, वे अपने गुरु को जुलाहा जैसी जाति से हटाकर पवित्र ब्राह्मण जाति से सम्बन्धित करके श्रेष्ठ तत्व प्रदान करना चाहते थे।

३—कबीर के धार्मिक अक्खड़पन से क्षुब्ध हिन्दु व मुसलमान उन्हें अपमानित व कलंकित करना चाहते थे। इसलिये कलंक कथा प्रचारित करदी गई।

४—कबीर जिस धार्मिक व सामाजिक एकता व सामंजस्य की बात करते थे उसका अंकुर उनकी जन्म कथा में ही विद्यमान था, ब्राह्मण किन्तु जुलाहो द्वारा पालित धर्म जाति व वर्ण के प्रतिबन्ध से परे सामाजिक एकता व धार्मिक

समन्वय के वे जीते जागते प्रतीक थे। स्वयं कबीर ने अपने साहित्य में जो लिखा है उसके साक्ष्य पर भी उनके कोरी व जुलाहा होने के तथ्य की पुष्टि होती है—

जाति जुलाहा मति की धीर—
हरषि हरषि गुण रमे कबीर

तू बामन मैं कासी का जुलाहा, चीन्ह न मोरि गियाना जाति जुलाहा नाम कबीर बनि बनि फिरो उदासी। हरिको नाम अभै परदाता कहै कबीरा कोरी। वे कोरी हो या जुलाहा या बंगाल के जुगीया नाथ लोग। उनमें मुसलमानी संस्कार के साथ साथ शिवोपासक योगियों के भी संस्कार थे। सन्त रैदास पन्ना, पीपा रज्जब अनन्तदास सभी समकालीन सन्तों ने उन्हें जुलाहा माना है।

परिवार के सन्दर्भ में विभिन्न लोक-कथाओं के आधार पर जो निष्कर्ष निकलता है उससे स्पष्ट होता है कि उनके पिता का व्यवहार बड़ा स्नेहपूर्ण था। "बापि दिलासा मेरी कीन्हा" कबीर की फक्कड़ प्रवृत्ति के कारण सम्भवतः उनकी माँ असन्तुष्ट रहती थी क्योंकि कबीर जो कुछ कमाते थे उसे साधु संगति में उसे व्यय कर डालते थे। कबीर ने स्पष्ट लिखा है —

मुसि मुसि रोवे कबीर की माई
ठाढ़ी रोवे कबीर की माई ए लरिका क्यों जीबै दुखाई
हमरे कुल कउ न राम कहियो
जबकी माला लई निपूते तब ते सुख न भयो।

कबीर पंथी कबीर को अविवाहित मानते हैं किन्तु ग्रंथ साहब के आधार पर स्पष्ट होता है कि कबीर का विवाह लोई नाम की स्त्री से हुआ था। वह किसी वनखण्डी वैरागी की पालिता कन्या थी, जो उस वैरागी की मृत्यु के बाद से कबीर के साथ रहने लगी। कतिपय आलोचक लोई को कबीर की शिष्या मानते हैं पत्नी नहीं। धनिया या धोई उनकी पत्नी का नाम था जिसे वे रमजनिया या धनिया कहते हैं। कुछ हो इन लोक कथाओं से यह अवश्य स्पष्ट होता है कि कबीर गृहस्थ थे। उनकी रचनाओं में ऐसे अनेक प्रसंग हैं—

१—मेरी बहुरिया को धनिया नाउ,
ले राख्यो रमजनिया नाउ।

२–कहत कबीर सुनो रे लोई, हम तुम विनस रहेगा सोई।

कबीर के कमाल नाम के एक पुत्र का भी उल्लेख मिलता है कहा जाता है कि उनके कमाली नाम की एक पुत्री भी थी। जनश्रुति है कि कमाल तथा कमाली किसी गृहस्थ की सन्तानें थी संयोग से उनकी मृत्यु हो गई। कबीर ने अपनी अलौकिक शक्ति से उन्हें जीवित कर दिया और तभी से वे उनकी संतान मानी जाती है। यद्यपि वे अपने पुत्र की संसारिकता से खिन्न रहते थे।

बूड़ा वंश कबीर का उपजया पूत कमाल,
हरिका सुमिरन छाँड़ कर घर ले आया माल।

कबीर के गुरु के संदर्भ में भी लोक कथानुसार स्वामी रामानन्द तथा शेख तकी दो नाम आते हैं किन्तु स्वयं कबीर का कथन "घर-घर अविनाशी अहै, सुनहु तकी तुम सेख" शेख तकी के गुरुत्व को स्पष्ट नहीं करता। "काशी में हम प्रकट भये हैं रामानन्द चिताये" रामानन्द के प्रति उनके आदर भाव का सूचक है। भले ही वे कबीर के मंत्र गुरु हों। उनकी रचनाओं में वैष्णव भक्तिः शाश्वत निंदा व पुनर्जन्म के सिद्धान्त तथा कबीर पंथ में प्रचलित जनश्रुतियों से कबीर पर रामनन्द का प्रभाव स्पष्ट व्यक्त होता है।

उनके जीवन के समान ही उनकी मृत्यु के सन्दर्भ में भी अनेक लोक कथाएँ प्रचलित हैं जिनके आधार पर उनके द्वारा काशी के स्थान पर मगहर को मृत्यु स्थल के लिये चुनना "जो कबिरा कासी मरै रामै कौन निहोरा रे" "अब कहु राम कवन गति मोरी, तजिये बनारस मति मई मोरी" कबीर ने जब प्राण छोड़ा तब एक चमत्कार हुआ। हिन्दुओं ने उनके शव के लिये अपना दावा किया और मुसलमानों ने अपना। जब शव पर से चादर हटाई गई तो मात्र कुछ फूल मिले जिसे हिन्दुओं व मुसलमानों ने अपने अनुकूल बाँट लिया।

उक्त सभी कथायें कबीर के सम्बन्ध में लोक कथा व जनचेतना का संगम प्रस्तुत करती हैं।

सन्तों के साये में–

सन्त मलूकदास

डा० सरोज मार्कण्डेय

"अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम,
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम"

सन्त मलूकदास भारतीय जन–जीवन में ऐसे घुले मिले हैं कि सामान्य एवं अतिसाधारण व्यक्ति भी समय एवं आवश्यकतानुसार उनकी अजगरी वृत्ति का उदाहरण देकर अपनी अकर्मण्यता की सार्थकता सिद्ध कर देता है। अब यह दूसरी बात है कि वह सन्त मलूकदास की वृत्ति एवं संस्कार से परिचित भी हैं अथवा नहीं। यों तो इन पंक्तियों के सन्दर्भ में भी विद्वानों में मतभेद है कि उपर्युक्त पंक्तियाँ उनके द्वारा लिखी गई हैं अथवा नहीं ? वस्तुत: जो भी हो यह निर्विवाद सत्य हैं कि हमारे जनजीवन में और प्रमुखत: सन्त काव्य परम्परा में सन्त मलूकदास का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं अपरिहार्य है।

मलूकदास का जन्म प्रयाग जिले के कड़ा गाँव में बैसाख वदी पांच सम्वत १६३० तदनुसार १५७४ में हुआ था यह जाति के कक्कड़ खत्री थे तथा इनके पिता का नाम था लाला सुन्दरदास। "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" के अनुसार यह बचपन से ही उदार थे एवं साधु सन्तों का समागम इनको रुचिकर था। इसके लिये इन्हें अपनी समस्त सम्पत्ति निछावर कर देने में भी संकोच न था। जनश्रुति के अनुसार यह एक बार बाजार में कम्बल बेचने गये। लौटते समय मज़ूर के रूप में स्वयं भगवान इनका गट्ठर पहुँचा गये। इस घटना ने इनका जीवन ही पलट दिया। वे कमरा बन्द करके भगवान के दर्शन हेतु चार पांच दिन तक बन्द रहे और तभी उठे जब भगवान ने इन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया। इन घटनाओं में भले ही अतिश्योक्ति हो किन्तु इतना निश्चित है कि बहुत शीघ्र ही इन्होंने जीवन के सांसारिक पक्ष को त्याग दिया तथा ईश्वर के ध्यान भजन और सत्संग को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाया।

मलूकदास के दीक्षा गुरु का नाम मुरार स्वामी बताया जाता है। अनेक सन्तों की भाँति इनकी आयु भी १०८ वर्ष बताई गई है। कबीर आदि समान मलूकदास भी गृहस्थाश्रम में ही रहे तथा इनके एक कन्या भी थी। थोड़े समय पश्चात इनकी पत्नी तथा कन्या दोनों का ही देहान्त हो गया।

अन्य सन्तों के समान ही सन्त मलूकदास के सम्बन्ध में चमत्कार की अनेक घटनायें हैं, जैसे अकाल में पानी बरसाना, डूबते हुए जहाज को बचा लेना, मृत्यु के मुख से लोगों को बचाना, अन्तर्ध्यान होकर कहीं का कहीं प्रकट हो जाना। कहा जाता है कि स्वयं औरंगजेब इन पर बड़ी श्रद्धा रखता था। इसीलिये उसने बड़ा गाँव पर जजिया नहीं लगाया। औरंगजेब का प्रमुख सरदार फतेह सिंह तो आगे चलकर इनका शिष्य भी हो गया और कालान्तर में मीर माधव के नाम से प्रसिद्ध भी हुआ।

इनके सम्बन्ध में प्रचलित किवदन्ती यह है कि महासमाधि में प्रवेश से पहले इनके शिष्यों और कुटुम्बियों को इसका आभास हो गया। इनकी इच्छानुसार इनका शरीर गंगा में प्रवाहित कर दिया गया जो त्रिवेणी घाट फिर दशाश्वमेध घाट होता हुआ जगन्नाथपुरी में जा लगा। इधर जगन्नाथ जी में पंडों को स्वप्न हुआ और वे इन्हें उठा लाये। मूर्ति के सम्मुख इन्हें रखते ही मन्दिर के पट बन्द हो गये और इन्होंने जगन्नाथ जी से प्रार्थना की कि इनके विश्राम को जगन्नाथ जी के पनाले के पास का स्थान एवं भोजन को पछोरन व शाक के छिलके मिलें। जगन्नाथ जी ने प्रार्थना स्वीकार करली और आज भी जगन्नाथ जी के पनाले के पास उनका स्थान है। इनके नाम से वहां रोट भी चढ़ता है जो जगन्नाथ जी के भोग के साथ प्रसाद में मिलता है।

मलूकदास द्वारा लिखित ग्रंथ हैं–ज्ञान बोध, रत्न खान, भक्त बच्छावली, भक्त विरुदावली, पुरुष विलासदास रत्न ग्रंथ, गेरु प्रताप अलखबानी, रामावतार लीला। यद्यपि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि सभी ग्रंथ इनके द्वारा रचित हैं अथवा इनके नाम से जोड़ दिये गये हैं। इनके परिवार वालों के पास रतनखान और ज्ञानबोध की हस्त लिखित प्रतियाँ अवश्य पाई जाती हैं अतएव इन दो ग्रंथों की प्रामाणिकता तो असंदिग्ध है ही ? इनके पंथ की मुख्य गद्दियाँ प्रयाग, जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना, नेपाल और काबुल में हैं।

मलूकदास के काव्य में गीता के प्रति भक्ति एवं राम नाम की भक्ति का स्वर प्रमुख है। कबीर के समान ही इनके राम भी दशरथ सुत राम न होकर निर्गुणी, निराकार, निरंजन राम हैं। ईश्वर के इसी स्वरूप को उन्होंने सब के दाता राम में प्रतिष्ठित किया है। संभवतः मलूकदास की पंक्तियाँ अजगर करे न चाकरी– उद्धृत करने वाले व्यक्ति यह नहीं जानते थे कि मलूकदास की अजगरी वृत्ति अकर्मण्यता, आलस्य एवं निष्क्रियता की पक्षधर नहीं है वरन संतों की वह सहज वृत्ति है जो जीवन की उपलब्धि पर समस्त हानि-लाभ, जीवन–मरण, यश–अपयश विधि हाथ छोड़ कर भी कर्म में रत है किन्तु किसी वासना एवं लिप्सा से युक्त होकर नहीं। इस सहज वृत्ति एवं ईश्वर के प्रति अगाध विश्वास का दर्शन मलूकदास के काव्य में अनेक बार होता है यथा—

हरि समान दाता कोउ ना हीं, सदा विराजे सन्तन माहीं
नाम विसंभर विस्व जिआवे। सांझ विहान रिजिक पहुँचावे
काहू भांति उजार न देई। जाही को अपना कर लेई
घरी घरी देता दीदार। जन अपने का खिदमतगार।

ऐसे ही सहज ईश्वर को अपना सर्वस्व सौंपकर संत मलूकदास निस्पृह, सहज एवं स्वाभाविक हो जाते हैं। अब उनके जीवन का दायित्व उनका नहीं वरन ईश्वर का है। यह अलमस्ती, बेफिक्री उन्हें ईश्वर के नाम से ही प्राप्त होती है। अतएव वे कह उठते हैं—

जीवहुं तें प्यारे अधिक लागैं मोहीं राम
बिन हरि नाम नहीं मुझे और किसी से काम ।।
कहं मलूक हम जबहिं तें लीन्ही हरि की ओट
सोवत हैं सुख नींद भरि डारि भरम की पोट
साहिब मेरा सिरा खड़ा, पलक पलक सुधि ले
जब ही गुरु किरिपा करैं, तबहिं राम कछु दे।

साहब, गुरु, राम, निरंजन उस एक अव्यक्त शक्ति के ही विभिन्न नाम हैं, गुरु कृपा से ही ईश्वर के प्रति विश्वास एवं प्रेम जाग्रत होता है इस एक अव्यक्त शक्ति को मित्र कहो अथवा प्रियतम भाई बन्धु कहो अथवा सिरजनहार एक ही

बात है। मुख्य बात है उसकी शरण गहना। मलूकदास बारबार उस समर्थ्यवान ईश्वर की शरण गहने को कहते हैं जो "तू ही मातु ही पिता, तू ही हितबन्धु" का पर्याय है। इसलिये उनका कथन है—

एक तुम्हें प्रभु चाहो राजा
भूपति रंक सेति न नाहि पूछैं, चरण तुम्हार संवारयो
तुम्हें छाड़ि जाने जो दूजा तो हि पापी पर परिहै गाज
कहै मलूक मेरा प्राण रमइया तीन लोक ऊपर सिरताज।

ऐसे प्रभु को पाकर आत्मा सदा सोहागिन नारि की भांति संतुष्ट एवं प्रसन्न हो उठती है। सन्त और भगवन्त के इस मिलन को मलूकदास ने प्रेमी और प्रियतम के माध्यम से स्पष्ट किया है। ईश्वर रूपी साजन के दीदार में सन्त की दीवानी आत्मा सब धर्म कर्म पूजा, पाठ जप-तप ध्यान-धारण जैसे बाह्याडम्बर को बिसार कर प्रेम प्याले को पीकर अलमस्त और बेपरवाह हो उस एक ईश्वर के दीदार में डूबी है—

तेरा मैं दीदार दिवाना।
घड़ी घड़ी तुझे देखा, चाहूँ सुन साहेब रहमाना
हुआ अलमस्त सबर नंहि तन की पीया प्रेम पियाला
ठाठ होऊँ तो गिर-गिर परता, तेरे रंग मतवाला।
कहै मलुक अब कजा न करिहौ दिल ही सो दिल लाया
मक्का हज हिये में देखा पूरा मुरसिद पाया।

कबीर, दादू और रैदास के समान ही मलूकदास भी प्रेम मद तथा उसकी पीर को अभिव्यक्त करते हैं। एक बार ससीम के बन्धन तोड़ते ही प्रेम की अभिव्यक्ति दर्द दीवाने बावरे, अलमस्त फकीर को धीर एवं निहसंक बना देती है। इस स्थिति का वर्णन करते हुये वे कहते हैं—

प्रेम पियाला पीवते बिसरे सब साथी
आठ पहर यों झूमते, ज्यों माता हाथी।
उनकी नजर न आवते कोऊ राजा रंक,
बन्धन तोड़े मोह के फिरते निहसंक ॥

प्रेमाद्वैत की इस इस स्थिति को अन्तरगत का भाव कहते हुए वे उसे गुप्त रखने पर जोर देते हैं। प्रेम जितना ही गुप्त होगा उतना ही प्रभावशाली होगा। इसलिये वे कहते हैं —

जो तेरे घट प्रेम है तो कहि कहि न सुनाव
अन्तरजामी जानि है, अन्तरगत का भाव।
सुमिरन ऐसा कीजिये दूजा लखे न कोय
ओंठ न फरकत देखिये, प्रेम राखिये गोय।

प्रेम दीवानी मीरा की भाँति सन्त मलूकदास भी प्रेम की पीर के कारण प्रिय का नाम रटते हुए तन में मनहि समाय के प्रतीक प्रेमाद्वैत को महत्त्व देते हैं। जब तक प्रेम की पुकार न हो, प्रियतम को सर्वस्व समर्पण न हो ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। मलूकदास के प्रेम की इस पिपासा का रूप इस प्रकार है—

कौन मिलावे जोगिया हो जोगिया बिन रहो न जाये
मैं जो प्यासी पीव की, रटत फिरौं पिउ पीव
जो जोगिया नहिं मिलति है हो तो तुरत निकासूँ जीव
गुरु जी अहेरी मैं हिरनी, गुरु मारै प्रेम का बान
जेहि लागै सोई जानई हो, और दरद नहि जान

यद्यपि मुख्य रूप से मलूकदास की ईश्वर भक्ति का स्वर, प्रेम कामना अर्थात प्रियतम के आर्त प्रेम से है पर कहीं कहीं इसे वात्सल्य रस के माध्यम से भी व्यक्त किया गया है—

जहाँ जहाँ बच्छा फिरै तहाँ तहाँ फिरै गाय।
कहैं मलूक जहाँ संतजन, तहाँ रमैया जाय॥

प्रेम की सहज वृत्ति में बाधक है माया अतएव मलूकदास माया रूपी ठगनी से बचने की गुहार करते हैं। यों उनका विश्वास है कि राम नाम के प्रभाव से ही इससे बचा जा सकता है। माया के प्रपंच स्वरूप ही जीवन भोग विलास में पड़ता है एवं भौतिक उपलब्धि को जीवन की पूर्णता माननें लगता है। इसलिये भौतिक प्रपंच के त्याग की आवश्यकता पर बल दिया गया है—

ना वह रीझे जप तप कीन्हे, ना आतम के जारे,
ना वह रीझे धोती टांगे, ना काया के पखारे ।

धन, जीवन का, अभिमान का त्याग, परद्रोह का त्याग, जप, तप जैसे वाह्याडम्बर का त्याग यही मलूकदास का उपदेश है । हठ अभिमान गौरव के स्थान पर दया और दीनता, परदुखकातरता, राम नाम का स्मरण एवं राम जी के चरण कमल में चित्त को लीन करना ही सन्त मलूकदास का अभीष्ट है । उनके शब्दों में —

राम कहो राम कहो राम कहो बावरे,
अवसर न चूक कोई पायो भलो दांव रे ।

तथा —

कहत मलूकदास छोड़ के पराई आस,
राम धनी पाइके अब काकी सरन जाइये ।।

वस्तुत: सन्त मलूकदास संतकाव्य परम्परा के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र के रूप में प्रकाशपुंज से युक्त हैं । उनके काव्य में नाथ सम्प्रदाय की अनुभूति एवं योग परम्परा, विट्ठल सम्प्रदाय की प्रेमा-शक्ति तथा रहस्यमयता, रामानन्द के प्रभाव से उत्पन्न अद्वैतवाद तथा विशिष्टा-द्वैतवाद की सम्मिलित विचारधारा में भक्ति की साधना तथा सूफी लोगों के प्रेम के खुमार का अद्भुत मिश्रण है । उनकी स्वतन्त्र चेतना, निर्गुण ईश्वर में विश्वास, बहुदेववाद तथा अवतार का विरोध, सद्गुरु का महत्व, जाति पाति के भेदभाव का विरोध, रूढ़ियों तथा आडम्बरों का विरोध, रहस्यवाद, भजन तथा नाम स्मरण तथा शृङ्गार वर्णन एवं विरह की मार्मिक उक्तियों के माध्यम से लौकिक जीवन एव पारलौकिक जीवन में सामंजस्य स्थापित करती है । उनकी वाणी के उपदेश जीवन रस से आप्लावित हैं । उनमें अनुभूति सौष्ठव और जीबन का अमर संदेश है । आत्म विश्वास, आशावाद और आत्मभिव्यक्ति की जीवन्त शक्तियों के माध्यम से संतों के साये में हमें जिस सत्य शिव और सौन्दर्य के दर्शन होते हैं वह अभूतपूर्व है । उन्होंने जनजीवन को धर्म-प्रवण एवं आशामय बनाकर जागरण की ज्योति जलाई । संस्कृति धर्म एवं राजनीति के इस तुमुल कोलाहल कलह में ''हृदय की बात'' के रूप में उनकी वाणी अमर व अपराजेय है ।

+

साहित्यकार का सत्य

श्री शिवचन्द्र नागर

मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों द्वारा मनुष्य जीवन और जगत से जो ग्रहण करता है और जो उसके प्राणों में एक सरल विश्वास एवं सहज आस्था बनकर ठहर जाता है वही है उस व्यक्ति का आकलित सत्य। जिस प्रकार स्वाति की सभी बून्दे एक सी होती हैं पर फिर भी उनमें से जो सीप में गिरती है वही मोती बनती है। कला में प्रस्थापित सत्य का रहस्य भी कुछ-कुछ ऐसा ही है। अनुभूति-रस की जो बूंदे संवेदना की सीप में समा जाती हैं केवल उनसे ही कलात्मक सत्य की सृष्टि होती है। साहित्यिक भी एक कलाकार ही है-एक ऐसा कलाकार जो अपने प्राणों में संजोये भावनात्मक सत्य को वाणी देता है, जो रंग और रेखाओं से चित्र तो नहीं बनाता पर चित्रों की भाषा में बोलता अवश्य है। विषय कोई भी हो पर वह संवेदनात्मक अनुभूति की लय से मेल खाना चाहिए; क्योंकि जिसे साहित्यकार की संवेदना ग्रहण नहीं करती उसे उसकी दृष्टि भी अनदेखा कर आगे बढ़ जाती है। साहित्यकार के भीतर द्रष्टा और बाहर दृश्य की अपेक्षा दोनों को जोड़ने वाली दृष्टि ही प्रायः सत्य का स्वरूप निर्धारित करती है, अतः साहित्य-सृजन की योजना में उसी का विशिष्ट स्थान है।

सत्य के साधक तो वैज्ञानिक, दार्शनिक और साहित्यिक तीनों ही हैं पर दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण तीनों अपनी-अपनी विशिष्ट दृष्टियों से जीवन और जगत को देखते हैं। एक खिले हुए फूल को देख कर वैज्ञानिक की दृष्टि उसकी निर्मिति के तत्व-विश्लेषण की ओर झुकती है दार्शनिक की दृष्टि उसके रूप में परम तत्व की खोज करती है; पर साहित्यिक की दृष्टि केवल उस फूल की छवि को चुराना चाहती है ताकि जो फूल उसने उद्यान में देखा, संवेदना की तूलिका से जिसकी छवि उसने अपने प्राणों में उतारी, उसी छवि को समृद्ध भाषा

के माध्यम से वह पाठकों के प्राणों तक पहुंचाता है। संक्षेप में साहित्यकार अपनी मर्म-छवियों के अंकन द्वारा अपने विचार, भावनाओं एवं कल्पनाओं को मूर्त तथा कलात्मक बनाने वाला कलाकार है। अतः साहित्यकार का सत्य 'जीवन एवं जगत की अनन्त वैविध्यशालिनी वास्तविकता का कल्पनाजन्य संवेदनात्मक चित्रण'' मात्र है।

सत्य की उपलब्धि दार्शनिक ज्ञानात्मक दृष्टि से, पर साहित्यिक सत्य की उपलब्धि भावनात्मक व रागात्मक दृष्टि से करता है। यही कारण है कि प्रायः साधारण अनुभव में अप्रिय लगने वाले सत्य भी साहित्यकार की दृष्टि द्वारा पुरस्कृत होने पर सुन्दर लगते हैं।

दार्शनिक की दृष्टि में "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" है; पर साहित्यकार एवं वैज्ञानिक दोनों ही भौतिक जगत को प्रतिबिम्बित करते हैं तथा अपनी-अपनी दृष्टियों से उपलब्ध सत्य की तरह प्रयोगसिद्ध नहीं होता, बल्कि अनुभूति-सिद्ध सत्य होता है। इसलिये यह तर्क की कसौटी पर भी नहीं कसा जा सकता। वह प्रमेय की अपेक्षा प्रेम अधिक होता है और संवेदना के रस से सींची हुई भाव लता की गोद में खिलता और पलता है। तर्क में एक ज्ञानी दूसरे ज्ञानी को हरा सकता है, पर जिसके कलेजे में कांटा चुभा है उसकी पीड़ा दूसरे की पीड़ा से कभी पराजित नहीं होती। दूसरे शब्दों में कहें तो साहित्यिक का सत्य उसकी आत्मानुभूति का अमर आलोक है। वह परिवर्तनशील वस्तुजगत से जुड़ा रहने पर भी एक सम्पूर्ण अविभाज्य इकाई के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। उदाहरणार्थ वैज्ञानिक युग-युगों से ध्रुव-बिन्दु को अचल मानते रहे; किन्तु आधुनिकतम वैज्ञानिक खोज ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि ध्रुव-बिन्दु अपने स्थान से कुछ शतांश मिलीमीटर झुक गया है पर बाल्मीकि, व्यास और कालीदास ने जिन ध्रुव-सत्यों की स्थापना अपने साहित्य में की थी, वे आज भी अविचल और अमर हैं। बात यह है कि वैज्ञानिक बुद्धिजन्य प्रयोगों द्वारा सामान्य के भीतर से विशिष्ट की उपलब्धि कराता है और साहित्यकार रागात्मक अनुभूतियों द्वारा गृहीत विशिष्ट चित्रों के भीतर से सामान्य की। रवीन्द्रनाथ टैगोरके शब्दोंमें साहित्यकार'ससीममें असीमकी उपलब्धि' कराता है।

साहित्यकार का सत्य नैतिक–अनैतिक तथा अश्लील को भी सामान्य तथा स्वीकृत रूपों में ग्रहण नहीं करता। वह कभी युग–सत्य को वाणी देता है, तो कभी युग से बहुत आगे की बात कहता है। यही कारण है कि जीवन और जगत में हम जिसे सामान्यत: सत्य मानते हैं वह साहित्यिक की दृष्टि में भी तद्‌रूप सत्य हो यह सदैव अनिवार्य नहीं, इसके विपरीत सामान्य व्यक्ति जिसे भ्रम ओर कोरी कल्पना मान बैठा है वही साहित्यकार की दृष्टि में महान सत्य भी हो सकता है। क्योंकि साहित्यकार की दृष्टि न तो दृश्य के वाह्य रूप में उलझती और न ही परम्परागत मान्यताओं से कुंठित होती है। वह तो रूप विधायिनी कल्पना और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के नियोजन से एक ऐसे लोक की रचना करती है, जो सहज ही पाठक के लिगे सर्वाधिक मर्मस्पर्शी, प्रिय, मूल्यवान एवं सर्वाधिक सत्य बन जाता है। उदाहरणार्थ संसार की दृष्टि में जो एक वेश्या है साहित्यकार की दृष्टि उसी के भीतर सतीत्व का मावसरोवर पा सकती है और संसार की दृष्टि में जो सती-साध्वी है उसके भीतर व्यभिचार का पंकिल पोखर। साहित्यिक की दृष्टि मानवता की पुरस्कर्त्री है फिर चाहे यह मानवता रत्नों से मंडित हो या धूल से धूसरित। यही कारण है कि चाहे साहित्यकार की दृष्टि में सत्य नैतिकता की सामान्य स्वीकृतियों में बंध कर न चले पर मानवता का पोषक मंगलमय आदर्श वह अवश्य प्रस्तुत करता है।

सम्भव–असम्भव का प्रश्न भी साहित्यकार के सत्य को वाधित नहीं करता। साहित्यकार और उसके पाठक की दृष्टि किसी एक बिन्दु पर मिलनी चाहिए–सम्भव के इस पार या उस पार। वस्तु–सत्य के कठोर धरातल पर या कल्पना के आकाश में। अरिस्टोटिल ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए एक स्थान पर कहा है कि साहित्यकार "असंभाव्य संभावनाओं की अपेक्षा संभाव्य असंभवनाओं को अधिक पसन्द करता है।"

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या साहित्यकार का सत्य केवल आत्मनिष्ठ सत्य ही है। वस्तुगत सत्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। मेरे विचार से इन दोनों का अटूट और अनिवार्य सम्बन्ध है; और दोनों के सुन्दर एवं कलात्मक समन्वय के बिना साहित्यकार की दृष्टि में संजोया हुआ सत्य यदि अपूर्ण नहीं तो

एकांगी अवश्य है। यदि साहित्यकार की दृष्टि ने वस्तु-सत्य की उपेक्षा की तो उसका साहित्य लोक-जीवन से असंबद्ध; असामाजिकता से आक्रांत और केवल व्यक्तिनिष्ठ तथा आत्मकेन्द्रित हो जाने का भय है और उसकी दृष्टि केवल वस्तुगत सत्य को ही अपनी परिधि में समेटा, तो वह एक इतिहासकार मात्र ही शेष रह जायेगा। वस्तुगत सत्य देश-काल की परिस्थितियों और विचारधाराओं से प्रभावित होता है और तद्नुसार परिवर्तित भी होता है। साहित्यकार की दृष्टि उसे युग-सापेक्ष्य भावना के रूप में ग्रहण करती है और युग का वह ऐतिहासिक सत्य उसके साहित्य में प्रतिबिंबित होता है—पर वैसे ही जैसे सागर के अंतर में सोई हुई चांदनी।

साहित्यिक की दृष्टि में सत्य केवल सत्य ही नहीं होता बल्कि सुन्दर भी होता है और यदि वास्तव में सुन्दर न भी हुआ, तो साहित्यकार की कलात्मक प्रतिभा का स्पर्श उसे सुन्दर बना देता है। साहित्यिक की दृष्टि वस्तुतः सुन्दर-असुन्दर के आधार पर विषय का निर्वाचन नहीं करती; क्योंकि खाली जो आँख को अच्छा लगे वही तो सुन्दर नहीं, सुन्दर वह है जो शिव भी हो। अतः साहित्यिक की दृष्टि में अधिष्ठित सत्य सुन्दर भी होता है और शिव भी। उदाहरण के लिये कला की दृष्टि से एक नदी में नहाती हुई युवती का भीगा हुआ सौंदर्य सत्य भी है और सुन्दर भी, पर शिव नहीं, क्योंकि उसका यथातथ्य अंकन मन में मंगलमय उदात्त भावनाओं को जागृत नहीं करता। सुन्दर और शिव से समन्वित सत्य ही, साहित्यिक की दृष्टि में सत्य है और सत्-साहित्य में वही सदैव पुरस्कृत होता आया है। रवीन्द्रनाथ टैगोर के शब्दों में "सौंदर्यमूर्ति ही मंगल की पूर्णमूर्ति है और मंगलमूर्ति ही सौंदर्य का पूर्ण स्वरूप है।" मैं इतना ही कहूँगा कि यह मंगलमय सौन्दर्य ही साहित्यिक की दृष्टि में सत्य है।

गुजराती लोकोक्तियां और उनका हिन्दी रूपान्तर

श्री शिवचन्द्र नागर, एम० ए० एल-एल० बी०

'लोकोक्ति' शब्द दो शब्दों से मिल कर बना है। इनमें से एक शब्द है 'लोक' और दूसरा शब्द है उक्ति'। 'उक्ति' का अर्थ है 'कहा हुआ'। इस प्रकार लोकोक्ति का शाब्दिक अर्थ होता है 'लोगों द्वारा कहा हुआ' अर्थात जनता में प्रचलित। यही कारण है कि यदि हम लोकोक्तियों की उत्पत्ति का इतिहास खोजें तो हमें पता लगेगा कि किसी विशेष भूमि-भाग के लोक–हृदय मे अपने बाहर प्रकृति, पशु, पक्षी इत्यादि से जो सत्य ग्रहण किये और साथ ही उन्हें अपने जीवन के सत्यों से भी टकराते पाया तो उनकी लोक चेतना ने उपमा, रूपक, उक्ति–वैचित्र्य और उक्ति–चमत्कार का सहारा लेकर लोकोक्तियों के रूप में अनेक फूल खिला दिये। लोक–चेतना पर चारों ओर की परिस्थितियों तथा वातावरण का प्रभाव निस्सन्देह पड़ता है पर मूल रूप में लोक–चेतना पर देश–काल के बन्धन लागू नहीं होते। यही कारण है कि भारत के विभिन्न लोक–समूह में ही नहीं बल्कि विश्व के विभिन्न भू–भागों में एक ही प्रकार की लोकोक्तियाँ पाई जाती हैं।

हमारे देश के भी विभिन्न भू-भागों में विभिन्न प्रकार की लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं। कुछ के रूपान्तर तो हिन्दी में भी प्रचलित मिलते हैं पर कुछ के नहीं। हमें तो राष्ट्र भाषा की भुजाओं में सभी प्रान्तीय भाषाओं का सौन्दर्य समेटना है, अतः हमें दूसरी प्रान्तीय भाषाओं की सुन्दर लोकोक्तियों को भी ले लेना चाहिये। कुछ लोकोक्तियों का सम्बन्ध किसी विशेष प्रान्त की परिस्थितियों, वातावरण तथा वहाँ के ऐतिहासिक तत्वों से होता है पर उन्हें भी हम उसी प्रकार के तत्वों का समावेश कर अपने अनुरूप बना सकते हैं। जैसे गुजराती में एक लोकोक्ति है 'लंका नी लाड़ी ने घोघा नो वर' जिसका अर्थ होता है कि 'लंका की दुलहिन और घोघा का दूलहा'। यह लोकोक्ति ऐतिहा-

सिक रूप में इस सत्य की ओर संकेत करती है कि 'घोघा' जो एक समय गजरात का प्रसिद्ध बन्दरगाह था, और 'लंका' के निवासियों में किसी समय विशेष सम्पर्क रहा होगा। इस लोकोक्ति में लोकहृदय दो दूर की वस्तुओं के मिलन की ओर संकेत करता है। अतः हम अपनी भाषा में इसका प्रयोग इस प्रकार कर सकते हैं कि 'लंका की दुलहिन और दिल्ली का दूल्हा।''

यहाँ गुजराती भाषा में प्रयुक्त कुछ इस प्रकार की सुन्दर लोकोक्तियाँ और उनका हिन्दी रूपान्तर दिया जा रहा है—

लोकोक्ति	हिन्दी रूपान्तर
आखो लाड़वो सामटी न खवाय।	पूरा लड्डू साबुत नहीं खाया जाता।
आभ फाटे त्याँ थीगड़ं क्याँ देवाय ?	आसमान फटने पर पैबन्द नहीं लगता।
आँधला ने आरसी ने बहेरा ने शंख	अंधे को आरसी और बहरे को शंख
आँधलो कहे भींत ने बहेरो कहे मस्जिद।	अंधा कहे भीत और बहरा कहे मस्जिद।
एकड़ा विनाना सो मींडाँ नकामाँ	विना एक के सौ सिफर बेकार
ओटी माँनुं हारे ने मुठी माँनू जीते।	कोठी का हारे और मुट्ठी का जीते।
कथा साँभली फूट्या कान, तोये नाव्युं ब्रह्म-ज्ञान।	कथा सुनते फूटे कान, फिर भी न आया ब्रह्मज्ञान।
काँई नेवना पाणी मोभे चढ़े ?	कहीं नींन का पानी छत पर चढ़ता है ?
खाना पीना खेरसल्ला ने धींगाणा वहोत !	हल्ला ही हल्ला खाना-पीना खैरसल्ला !
खाले डूचा ने दरवाजा उघाड़ !	मोरी में कपड़ा पर दरवाजे चौपट !
गद्धा ने खाया खेत नहिं पुण्य के पाप ?	गधे ने खाया खेत न पुण्य न पाप !
गाय ने दोही ने गद्धा ने पावुं !	गाय को दुहना और गधे को पिलाना !
गोविंद नुं गमतुं थाय मारूं तारूं मिथ्या छे।	गोविंद की इच्छा मेरा तेरा मिथ्या
घऊं खेत माँ ने बेटा पेट माँ	गेहूँ खेत में और बेटा पेट में
चार मले चोटला तो भांगे ओटला।	चार मिले चोटियाँ तो टूट जायें कोठियाँ।

लोकोक्ति	हिन्दी रूपान्तर
छगन मगन तो सोना नाने, पारथाँ छोकराँ गारा नाँ।	छगन-मगन तो सोने के, और दूसरे मिट्टी के।
जटा बधारे जगदीश मले, तो वडला वैंकुँठ चाले।	जटा बढ़ाये जगदीश मिलते तो बड़ वैकुंठ चला जाता।
जेने मूकी लाज तेने नानु सरखु जार !	जिसने छोड़ी लाज उसका छोटा सा राज।
ठींकरी घड़ाने फोड़े !	एक ठीकरी घड़े को फोड़े।
तेना टांटिया तेनाज गला माँ	उसका फंदा उसी के गले में
देखवु नहि ने दाभवु नहि	आँख से दूर तो मन से दूर
नहि मामा करतां कैंणो मामो सारो !	मामा न होने से तो काना मामा ही अच्छा
नाक कट्टा पण घी चट्टा !	नाक कटा. पर घी चटा। (An uninvited guest is like a straw,)
पहले दहाड़े परोणों ने बीजे दहाड़े पई, त्रीजे दहाड़े रहे तेनी अक्कल गई।	पहले दिन पाहुना, दूसरे दिन पई। तीसरे दिन रहे, तो उसकी अक्ल गई॥
पहली मारे कदी न हारे।	पहली मारे कभी न हारे।
पाणी बलोवी माखण न पामिये।	पानी में से मक्खन नहीं निकलता।
बकरूँ काढ़ताँ ऊँट पेसे !	बकरा निकालते ऊँट घुस आये।
बड़ा घर भूत का दर	बड़ा घर भूत का डर
बड़े बड़ेकु दुःख हम, छोटे से दुःख दूर।	बड़ों-बड़ों को दुख मिले, छोटों से दुख दूर।
तारे सब न्यारे रहे, ग्रहे चन्द्र और सूर।	तरे सब न्यारे रहें, ग्रहे चन्द्र औ' सूर॥
बाप जेवा बेटा ने वड तेवा टेंटा	बाप जैसा बेटा और बड़ जैसा टेंटा
बावो उठ्यो बगल माँ हाथ।	बाबा उठा बगल में हाथ।
बे घर नो परोणो भूखे मरे।	दो घर पाहुना भूखा मरे।

भणतॉं पंडित नीपजे, लखतॉं लहीओ थाय ।	पढ़त-पढ़त पंडित बने, लिखते लेखक होय ।
भरम भारी ने खीसा खाली	भरम भारी और जेब खाली
माणस-माणस मॉं ऑंतरो,	आदमी-आदमी में अन्तर,
कोई झवेर ने कोई कॉंकरो ।	कोई हीरा कोई कंकर ।
मीयॉं चोरे मुठी, अल्ला चोरे माणुं ।	मियां चुराये कन भर, अल्ला चुराये मन भर ।
मोंढुं बाघ नुं पूछडूं शियाल नुं	मुंह बाघ का पूँछ सियार की
रज नुं गज ने बात नुं वतेसर	रज का गज और बात का बतंगड़
राजा ने मन राणी, णाक्षा वोणती आणी !	जो राजा को भाये वह रानी, चाहे हो अन्धी चाहे कानी ।

किसान और कहानी

साहित्य की जड़ें जनता के मनोभावों की मिट्टी में रखी जाती हैं। और जनता की चेतना, विचार आदर्श और सपनों को लेकर ही वह फूलता फलता है। व्यापक साहित्य जनता के लिये ही लिखा जाता है और उसकी उत्तमता इसी पर निर्भर है कि वह उस जनता के प्रगति के रास्ते पर निरंतर आगे खींचकर ले जाए। हमारे देश की अधिकांश जनता किसान है और यदि हम यह कहें कि भारतवर्ष किसानों का देश है तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। फिर यह साहित्यिकों के लिये बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रश्न हो जाता है जिन किसानों हम कैसे साहित्य का निर्माण करें। साहित्य के भी बहुत से अंग हैं। पर हमें यहाँ केवल इसी पर विचार करना है कि किसानों के लिए कहानी साहित्य कैसा हो ?

कहानी ने किसानों के जीवन में अनायास ही बड़ा महत्वपूर्ण स्थान ले लिया है। सभी घरों की बड़ी बूढ़ी रात में बच्चों को सुलाते समय कहानियाँ सुनाती हैं। परियों की, देवताओं की राक्षसों की राजाओं की रानियों की, और इन कहानियों से लगता है कि जैसे समय ने इन पर अपना असर बिलकुल नहीं डाला है। जैसी वे सौ साल पहले थीं वैसी ही वे आज भी है। पर युग किसी के लिए नहीं ठहरता है वह आज उनसे बहुत आगे बढ़ गया है। इन कहानियों को सुन सुन कर उन किसान शिशुओं के मन पर बड़े ही विकृत संस्कार अपनी गन्दी छाया छोड़ जाते हैं। फिर जब बालक गांव की पाठशाला में पढ़ने जाने लगने हैं तो फिर उन्हें मेलों-ठेलों से या चलती-फिरती दूकानों से जो कहानियों की पुस्तकें मिल पाती हैं, उनमें भी प्राय: राजा रानी और परियों के ही किस्से रहते हैं। इनका प्रभाव भी उन किसान बालकों पर कुछ अच्छा नहीं पड़ता। अतएव हमारी सब से पहली आवश्यकता यह है कि इन किसान बालकों के लिए ऐसी कहानियां लिखी जानी चाहिए जो सहज ही उनकी समझ में भी आ जाएँ

साथ ही उनके मन तथा मस्तिष्क पर स्वस्थ संस्कारों की छाया भी डाल सकें। बालक जिस जीवन को प्रतिदिन देखते हैं, उन कहानियों के कथानक उसी जीवन के भीतर से लिये गए होने चाहिए। लेखक को इस विषय में और भी अधिक सावधान रहना है कि उन कहानियों की रोचकता कहीं उपदेश के बोझ में न दब जाए। उपदेश तो उनके लिए चीनी में लिपटी हुई गोलियों की तरह ही होने चाहिये। यदि कहानियाँ ऐतिहासिक हैं तो अपने देश के प्रेम और देश-वासियों की वीरता से सम्बन्धित हो सकती हैं। वे अपने देश की प्राचीन और उज्ज्वल संस्कृति और कीर्ति, यश तथा वैभव का दर्शन करा सकती है। अपनी विद्या समृद्धि और ज्ञान गरिमा को दरशा सकती हैं। पर उनकी शैली उन किसान बालकों के लिए सहज सुबोध होनी चाहिए।

जैसे ही जैसे किसानों में अब शिक्षा का प्रचार बढ़ रहा है वैसे ही वैसे अब किसानों में अध्ययन प्रेम भी बढ़ेगा। आज तो देखा जाता है कि थोड़े पढ़े' लिखे किसान जब काम से थक जाते हैं तो "साढ़े तीन यार का किस्सा" तोता मैंना की कहानी, या ऐसी ही दूसरी पुस्तकें ले लेकर जोर से पढ़ने बैठ जाते हैं और थोड़ी ही देर में बिना पढ़े लिखे किसानों की भीड़ की भीड़ इकट्ठा हो जाती है, गाँवों में आपको ऐसे पाठक और ऐसे श्रोता कही भी मिल जाएँगे खेतों में, खलिहानों में, कोल्हुओं में, चौपालों में। पर यदि वास्तव में देखा जाए तो वह आदमी को निष्क्रिय बना देने वाले इस सड़े हुए साहित्य के दिन गए। अब हमें इन किसानों के लिए नवीन चेतना पूर्ण, तेजस्वी साहित्य का निर्माण करना है। हमें ऐसी कहानियां लिखनी हैं जो तोता, मैना की तरह रोचक भी हों, पर साथ ही स्वतन्त्र भारत के किसान की नसों में नवीन रक्त नवीन शक्ति और नवीन स्फूर्ति का संचार भी कर सकें। तब इन किसानों के लिए यह कहानियाँ कैसी हों, यह प्रश्न बड़ा ही महत्वपूर्ण है।

किसी भी साहित्य का काम उपदेश देना नहीं होता अतः हमारा आशय भी यह कदापि नहीं कि हम कहानियों द्वारा किसानों को उपदेश दें या किसानों में प्रचार करें बल्कि हमारा उद्देश्य तो यह होना चाहिए कि उनके मन की

कहानी कहने और कहानी सुनने की मांग पूरी होने के साथ साथ उन्हें उनमे अपनी समस्याओं का समाधान मिल जाए और मिल जाए अपने प्रश्नों का उत्तर।

साधारणतया देखा गया है कि गाँवों में किसानों का जीवन विशेषतया पारिवारिक जीवन बड़ा ही उलझा हुआ रहता है। पारस्परिक कलह उनके जीवन के सुख छीन लेती है और वहाँ छोटी छोटी बात पर फौजदारी हो जाना बड़ी साधारण बात है। इससे मुकदमेबाजी बढ़ती है और फिर उसका परिणाम सर्वनाश ही समझिये। अतः हम कहानियों के कथानक उनके पारिवारिक और सामाजिक जीवन में से ले सकते हैं। और द्वारा उनके परिवार तथा समाज में में घुसी हुई बुराइयों का दुष्परिणाम दिखा सकते हैं। आज तक का कहानी साहित्य मध्यम वर्ग के नागरिकों के पारिवारिक जीवन को लेकर किया गया है। पर साहित्य की दृष्टि से किसानों के पारिवारिक और सामाजिक जीवन का क्षेत्र भी उतना ही उपजाऊ है जितना कि और कोई क्षेत्र। प्रेमचन्द ने अनेक कहानियों के कथानक किसान परिवारों से लिये गए हैं। किसानों के लिए ऐसी ही सुन्दर और सफल अहानियों का सृजन होना चाहिए। इन्हीं सामाजिक और पारिवारिक कहानियों में हम मनोविज्ञान के सरस सिद्धान्तों का समावेश भी कर सकते हैं।

किसानों की दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या खेती से सम्बन्धित है। विज्ञान ने खेती की उन्नति के लिये अनेकों साधन दिये हैं पर हमारे देश का किसान अभी तक पुराने ढंग से खेती करता चला आ रहा है। यही कारण है कि हमारे यहाँ की उपज प्रति एकड़ दूसरे देशों की अपेक्षा बहुत कम है। विज्ञान के इन साधनों को किसानों में लोक प्रिय बनाने के लिए हम कहानियों का सहारा ले सकते हैं। कहानियों द्वारा हम उन्हें यन्त्रों का प्रयोग बता सकते हैं। नए नऐ सिंचाई के नवीन उपाय तथा अच्छे बीज की विविध किस्मों पर प्रकाश डाल सकते हैं। खेतों के अतिरिक्त जो उन्हें अवकाश का समय मिलता है उसके सदुपयोग जैसे कातना, बुनना इत्यादि छोटे छोटे कुटीर उद्योगों की ओर प्रेरित कर सकते हैं।

इन्हीं कहानियों के माध्यम से बहुत सी कुरीतियां उनके समाज में चली आ रही हैं—उन पर भी तीखा प्रहार कर सकते हैं जैसे उदाहरण के लिए बाल विवाह, परदा प्रथा इत्यादि। इन कहानियों में हम किसानों का जीवन सुखी और समृद्धशाली बनाने के लिए किसी निश्चित योजना की ओर संकेत कर सकते हैं। हम उनके शिक्षा, स्वच्छता के लाभों का दर्शन भी करा सकते हैं।

लेखक को इस विषय में बहुत सावधान रहना है कि कला की दृष्टि से ये कहानियाँ कोरा प्रचार और उपदेश ही न रह जायें। कहानी-कला की दृष्टि से वे सफल और रोचक कहानियाँ होनी चाहिए। केवल उनका उद्देश्य रचनात्मक हो। उनके चित्रण यथार्थवादी हो सकते हैं, पर उनका लक्ष्य जीवन को सुन्दर से सुन्दरतर बनाना होना चाहिए और होना चाहिए किसान जनता के मंगल स्वप्न की अवतारणा।

यह तो रही उनकी कथावस्तु और उनकी आत्मा की बात, अब प्रश्न शैली का उठता है। इन कहानियों की शैली कैसी हो?

आज से कई हजार वर्ष पहले एक जैन साहित्य के निर्माता ने कहा था कि कथा तो नववधू की तरह होनी चाहिए अर्थात उसमें नई दुलहन के सभी गुण होने चाहिए। वह रोचक हो, रसमयी हो और कौतूहलपूर्ण हो। कथा के आरम्भ से अन्त तक रस बना रहे। इन कहानियों की भाषा सरल और सुबोध हो। बोलचाल की भाषा ही में हमें इन्हें लिखना है साथ ही किसान जनता में प्रचलित मुहाविरों का प्रयोग भी यथेष्ट मात्रा ही में हो तो अच्छा है।

अन्त में मैं यह कहूँगा कि किसानों के लिए कुछ लिखने के पहले लेखक के लिए यह अत्यावश्यक है कि वह किसान परिवार, समाज, उनके गुण और दोष, उनके मनोभावों तथा उनकी समस्याओं का पूर्णतया अध्ययन कर लें। उसका ज्ञान यदि अनुभव पर आधारित होगा तो वह सच्चे अर्थों में किसानों को उनका अपना साहित्य दे सकेगा।

गुजराती साहित्य से हम क्या लें ?

शिवचन्द्र नागर, एम० ए० एल-एल० बी०

गुजराती भाषा एक जीवित भाषा है और उसका साहित्य सृजन भी महान परम्पराओं से युक्त। गुजराती भाषा की मूल धारा को हम हिन्दी की भांति ही चार हजार वर्ष पूर्व से अंकित कर सकते हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन ने गुजराती भाषा के विषय में लिखा है :—

"We have thus a connected chain of evidence as to the growth of the Gujrati language from the earliest times. We can trace the old Vedic language through prakit down to Apabhransa and we can trace the development of Apabharansa from the verses of Hemchandra down to the language of a Parsi News-Paper. No single step is wanting for nearly four thousand years" अर्थात "गुजराती भाषा का विकास प्राचीन काल से अब तक बिलकुल शृंखलाबद्ध रहा है। हम इसका विकास प्राचीन वैदिक भाषा से प्राकृत के मध्य से अपभ्रंश तक दिखाया जा सकते हैं। लगभग इस चार हजार वर्ष के शृंखलाबद्ध विकास में कोई भी शृंखला कहीं से टूटी हुई नहीं है।"

गुजराती भाषा के उज्ज्वल इतिहास की भांति ही इसका साहित्य निरन्तर विकासशील रहा है और यही कारण है कि आज वह हिन्दी की भांति ही फला-फूला और समृद्धशाली है।

जब तक अंग्रेजी भाषा की छत्रछाया हमारे ऊपर थी तब तक प्रान्तीय भाषाएँ अपनी अपनी परिधि के भीतर ही स्वतन्त्रता से विकास पाती रहीं, और नवीन आलोक की प्रेरणा के लिये भी उन्होंने अंग्रेजी की ओर ही निहारा, पर अपने ही देश में कभी उन्होंने अपने घर की दीवार के उस पार झाँकने तक का

भी प्रयत्न नहीं किया और कदाचित वे यह भी भूल बैठी कि वे तो सब बहिन-बहिन हैं किन्तु अब देश की स्वतन्त्रता के बाद और हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनने का गौरव प्राप्त होने के कारण प्रान्तीय भाषाओं के लिए यह सम्भव नहीं रह गया कि वे अपनी बड़ी बहिन के राज्याभिषेक पर अपने घर के द्वार बन्द किये बैठी रहें और उसके महान उत्तरदायित्व में हाथ न बंटायें। समस्त देश को चट्टान की भांति दृढ़ बनाने के लिए देश का प्रत्येक नागरिक, चाहे उसकी मातृ-भाषा कोई भी क्यों न हो, एक सशक्त और समृद्ध राष्ट्र भाषा के सबल सूत्र में बँधा होना चाहिए, पर साथ ही हमें इस तथ्य के प्रति भी मानव बुद्धि को धर्म से पृथक मानता है। परन्तु इतना है कि यह वैशेषिक दर्शन की विशेषता है कि उसमें विश्व के स्वभाव की ओर कार्य कारण भाव की बौद्धिक उपपति अत्यन्त व्यापक रूप से बताई गई है। आगे सम्भवत: धर्म मीमांसा की बोद्धिक नींव उसी परम्परा पर प्रचलित हुई है।

सजग रहना है कि राष्ट्र भाषा के प्रति यह प्रेम ऊपर से नहीं थोपा जा सकता, बल्कि जब किसी प्रान्तीय भाषा भाषी को राष्ट्र भाषा के विशाल वैभव का पता लगेगा तब वह स्वभाविक रूप से ही उस ओर आकर्षित होगा। इसलिए यह स्वाभाविक सा ही हो जाता है कि जो उसकी अपनी भाषा में सुन्दर अथवा महान है उसे हमें राष्ट्र भाषा में समाहित कर लेना चाहिए और इस प्रकार यदि हम Political Federation के साथ-साथ Linguistic Federation (भाषा संघ) की भावना को जोड़ दें और उस दिशा में प्रयत्नशील भी हों तो अति उत्तम होगा। अत: हिन्दी विद्वानों का सब से पहला काम तो एक ऐसा कोष तैयार करने का है जिसमें हिन्दी के बाद गुजराती ही नहीं वरन मराठी और बंगाली भाषाओं की समानता को भी दिखा सकें।

जहाँ तक गुजराती भाषा से हिन्दी में कुछ लेने का प्रश्न है मेरे विचार में गुजराती भाषा के उन शब्दों का समावेश कर लेना चाहिए जिनका समानार्थ-वाची एक सुन्दर शब्द हमें अनायास ही हिन्दी में नहीं मिल पाता। जिस देश विशेष की जो भाषा होती है उसमें उस देश की सभ्यता संस्कृति और इतिहास के चिन्ह छिपे रहते हैं; उन चिन्हों को व्यक्त करने वाले शब्दों का सम्बन्ध उस

विशेष प्रान्त से ही होता है। हम ऐसे देशज शब्दों को भी हिन्दी में ले सकते हैं, कुछ वस्तुओं, रीतिरिवाज और त्यौहारोंइ त्यादि को व्यक्त करने वाले शब्द भी हमें हिन्दी में ले लेने चाहिए। उदाहरण के लिये गुजराती में एक शब्द 'पनेतर' है 'पनेतर' का अर्थ उस साड़ी से है, जो कन्या विवाह के समय पहनती है। ऐसे विशेषार्थवाची शब्दों को हमें अपने विन्दी के कोषों में ले लेना चाहिए। इससे यह लाभ होगा कि हिन्दी भाषा की व्यापकता किसी भी भाषा भाषी प्रान्त के लोक-हृदय को छू सकेगी और इससे उन्हें यह भी अनुभव नहीं होगा कि वह उन पर एक बाहरी भाषा के रूप में लादी जा रही है।

यह तो रही शब्दों की बात, पर इसके साथ ही हमें गुजराती भाषा के सुन्दर मुहावरे और कहावतें भी ले लेनी चाहिये। उनका सहज ही हिन्दी में रूपान्तर हो सकता है। उदाहरण के लिये गुजराती में एक मुहावरा है कि "मोर ना ईडा ने चीतरवानी जरूर न थी।" इसका हम हिन्दी में सीधा प्रयोग इस प्रकार कर सकते हैं कि "मोर के अण्डों को चित्रकारी की जरूरत नहीं।" इसी प्रकार और भी अनेक सुन्दर मुहावरे और कहावतें गुजराती में हैं।

अब तक हमने संक्षेप में इस बात पर विचार किया कि गुजराती भाषा से हम क्या ले सकते हैं पर अब हमें इस विषय पर विचार करना है कि गुजराती साहित्य से हमें क्या ले लेना चाहिये।

साहित्य तो जन समाज की वाड्मय चेतना का ही संग्रहीत रूप है। जन समाज की चेतना साहित्य में काव्य, कथा,नाटक इत्यादि अनेक माध्यमों से व्यक्त होती आई है पर इस चेतना का स्तर सभी कहीं एक-सा नहीं होता, किसी क्षेत्र में बहुत सम्भव है किसी विशेष जन समाज की चेतना का स्तर हम से ऊँचा हो तो किसी में हम से नीचा। इसलिए अपने यहाँ के साहित्य को समृद्ध बनाने के लिये यदि हम दूसरे साहित्य का वह भाग अपने यहाँ ले लेवें जिसमें उस साहित्य का चेतना स्तर हम से ऊँचा उठ गया है तो इसमें कोई लज्जा की बात नहीं। अतः हिन्दी साहित्य के सभी अंगों को पुष्ट करने के लिए हमें गुजराती साहित्य के उत्तम तथा लोक प्रिय साहित्य को अपनी भाषा में ले लेना चाहिए, क्योंकि जब वह चेतना का स्तर अनूदित रूप में पाठक के विचरण करने के लिए सुलभ

हो जायगा तो फिर उससे प्रेरित होकर उस स्तर की मौलिक रचनाओं का सृजन होना भी बहुत स्वभाविक है।

गुजराती साहित्य से जो हम ले सकते हैं उसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है: –

(१) उपयोगी साहित्य
(२) मौलिक साहित्य

उपयोगी साहित्य से मेरा तात्पर्य उस साहित्य से है जो सृजनात्मक कला (Creative Art) की परिधि में नहीं आता बल्कि मनुष्य के ज्ञान–विज्ञान का संग्रहण मात्र ही होता है। इस साहित्य के अन्तर्गत विज्ञान, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, भूगोल, इतिहास और पुरातत्व इत्यादि विषयों की पुस्तकें आती हैं। यदि इन विषयों से सम्बन्धित उत्तम पुस्तकों का प्रणयन गुजराती में हो चुका है तो हिन्दी में हमें शीघ्रातिशीघ्र उनका रूपान्तर कर हिन्दी के उस अभाव की पूर्ति कर देनी चाहिये। हमारे पास समय कम है पर इस थोड़े से समय में ही हमें हिन्दी को पूर्णतया अँग्रेजी के स्थान पर अभिषिक्त कर देना चाहिये। यह तभी सम्भव हो सकेगा जब हमें विविध विषयों से सम्बन्धित देश के सभी विद्वानों का सहयोग प्राप्त हो सके।

विज्ञान की ज्ञान रश्मियों को गुजराती के माध्यम से जनता तक पहुंचाने की दिशा में गुजराती विद्वान बहुत दिनों से प्रयत्नशील रहे हैं। पहल श्री कांति लाल जी ने 'गुजराती' पत्र में 'विज्ञान–मन्दिर' स्तम्भ का प्रारम्भ किया और फिर उनके सहकारी श्री पोपट लाल शाह, पर्जन्य राय मेढ, खंडु भाई नायक, वीरमित्र दीवेटिया और विजय लाल ध्रुव इत्यादि ने मिल कर गुजरात में एक वैज्ञानिक मंडल के निर्माण करने का निश्चय किया। सौभाग्य से इस प्रकार की विज्ञान परिषदें तो हमारे यहाँ भी हैं पर अभी इनके संचालकों ने हिन्दी के माध्यम से विज्ञान की शिक्षा को लोकप्रिय बनाने की दिशा में कोई सराहनीय कदम नहीं उठाया। गुजराती में तत्वज्ञान सम्बन्धी साहित्य पहले श्री मणिलाल जी ने रचा, फिर श्री नर्मदा शंकर मेहता ने तत्वज्ञान के इतिहास का निर्माण किया। श्री हीरा लाल श्रॉफ ने तत्वज्ञान के अध्ययन में पाश्चात्य तत्वज्ञान

सम्बन्धी प्रकरणों को जोड़कर उसकी प्रगति की और आगे बढ़ाया तथा हरसिद्ध भाई दीवेटिया ने पाश्चात्य मानस शास्त्र के एक महान ग्रन्थ को गुजराती में उतार कर पाठकों के लिगे मार्ग और भी अधिक सुलभ बना दिया। राजनीति और इतिहास सम्बन्धी साहित्य के साथ साथ अर्थशास्त्र के क्षेत्र में गुजराती में विशिष्ट साहित्य का प्रणयन हुआ है। अभी हाल में श्री नरहरि पारीख की पुस्तक 'मानव अर्थशास्त्र' इस दिशा में एक और नवीन प्रगति है। इस प्रकार के सभी उपयोगी और उत्तम ग्रन्थों को हमें हिन्दी में ले लेना चाहिये।

भाषा–विज्ञान के क्षेत्र में भी गुजराती में बहुत काम हुआ है। सर्वश्री जिनविजय जी, बहेचर दास तथा सुखलाल पंडित ने प्राकृत अपभ्रंश तथा प्राचीन जैन दर्शन के ग्रन्थों पर विशेष खोजपूर्ण प्रकाश डाला है। इस दिशा में खोज का कार्य करने वाले हिन्दी विद्यार्थियों को इससे नवीन आलोक मिल सकता है। इसी प्रकार साहित्य, अलंकार और नाट्य शास्त्र के क्षेत्र में श्री रसिक लाल तथा श्री राम नारायण पाठक द्वारा की गई सेवाओं से भी इस दिशा में हिन्दी के साहित्य निर्माण की सम्भावना है।

गुजराती साहित्य जहाँ एक ओर उपयोगी साहित्य के निर्माण में उर्वर रहा है वहाँ दूसरी ओर मौलिक और सृजनात्मक साहित्य के निर्माण में भी। काव्य और कथा साहित्य के क्षेत्र में गुजराती साहित्य समृद्ध होते हुए भी हिन्दी को कोई नवीन आलोक नहीं दे सकता, क्योंकि इस दिशा में हिन्दी साहित्य ने खूब उन्नति की है और विश्व की नवीनतम प्रवृत्तियों को सफलता पूर्वक अपनाया है। पर उत्तम साहित्य का अध्ययन तो कुछ न कुछ गुणों का प्रसार ही करता है अतः हम श्री नरसिंह राव, श्री मणिशंकर, श्री मेघाणी तथा श्री अरदेशर फराम जी खबरदार के कतिपय काव्य, श्री कन्हैया लाल मुंशी तथा श्री रमण लाल वसन्त लाल देसाई के उपन्यास तथा श्री 'धूमकेतु' की कहानियां हिन्दी में ले सकते हैं। इस दिशा में कुछ प्रकाशक प्रयत्नशील हैं। पर दुःख की बात है कि उनका उद्देश्य व्यवस्थित रूप से साहित्य निर्माण नहीं बल्कि अपने लिए अधिक से अधिक मात्रा में अर्थ निर्माण है।

हिन्दी कविता उच्चकोटि के कलापूर्ण तथा नवीन प्रवृत्तियों से युक्त काव्य

के प्रति जितनी सचेष्ट रही उतनी ही लोक–काव्य के सृजन में उदासीन । इसका परिणाम यह हुआ कि हम केवल उच्च शिक्षित जनता को ही उत्तम काव्य दे सके पर भारतवर्ष की ग्रामीण जनता के लिये शिष्ट और सुन्दर लोक गीतों का सृजन कर लोक–चेतना का स्तर ऊँचा उठाने में सहायक नहीं हुये । हमने इस सत्य पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया कि देश का हृदय लोक–गीतों में बसता है । हिन्दी में सर्वश्री राम नरेश त्रिपाठी तथा देवेन्द्र सत्यार्थी आदि कुछ विद्वानों ने लोक गीतों के संकलन और संपादन का कार्य तो किया पर शिक्षित वर्ग द्वारा लोक गीतों का सृजन बिल्कुल नहीं के बराबर ही हुआ । पर गुजराती में दोनों ही काम साथ–साथ हुए हैं । जहाँ एक ओर श्री रायचुरा तथा श्री मेघाणी इत्यादि सौराष्ट्र भाइयों ने लोक गीत और रास का साहित्य प्रकाश में रक्खा वहाँ दूसरी ओर कवि श्री नानालाल, नरसिंह राव, मेघाणी तथा श्री खबरदार जी ने रास, गीत, गरबे तथा लावनियों इत्यादि संगीत प्रधान काव्य का निर्माण भी किया और गुजरात के लोक जीवन में काव्य संगीत और नृत्य की सरस त्रिवेणी भी बहा दी । हिन्दी में कतिपय गीत–लेखकों ने लोक–गीतों की संगीत–योजना को तो अपनाया पर शब्द तथा भाव योजना को नहीं । इस दिशा में श्री निराला जी ने कुछ मल्हार गीत लिखे थे पर वास्तव में अभी यह क्षेत्र सूना ही पड़ा है, जब कि गुजरात में श्री नानलाल के रास, श्री मेघाणी के लोक गीत, खबरदार की पूरी पुस्तक 'रास चन्द्रिका' बड़ी ही लोक प्रिय हो गई है । स्त्री कवियित्रियों ने अपना सुन्दर योगदान गरबों के सृजन में दिया है और इसके लिए सौ० दीपक बा के गरबे विशेष प्रसिद्ध हैं ।

गुजराती साहित्य में हास्यपूर्ण साहित्य निस्सन्देह हिन्दी से अधिक उच्च स्तर का है । बहुत सम्भव है इसकी उन्नति में विशेष रूप से गुजरात प्रान्त का वातावरण सहायक रहा हो । इधर गुजराती में आलोचना के क्षेत्र में भी हास्यपूर्ण शैली का आरम्भ हुआ है और इसके जन्मदाता नवयुवक लेखक श्री ज्योतिन्द्र दवे हैं ।

दूसरे हिन्दी में उच्च कोटि के बाल–साहित्य का तो बिल्कुल ही अभाव है । पर गुजराती में मनोविज्ञानिक आधार पर बाल–साहित्य की हजारों उत्तम

पुस्तकों का प्रणयन हुआ है। श्री गिजूभाई जैसे वाल–साहित्य के अनुभवी लेखकों ने तो अपना सम्पूर्ण जीवन बाल–साहित्य की सृजन साधना में ही बिता दिया। श्री गिजूभाई से पहले श्री देलवाडाकर ने 'बाल–शिक्षण' को 'किंडर-गार्टन पद्धति' से सम्बन्धित साहित्य की रचना की थी पर बाल–साहित्य के सृजन को एक मनोवैज्ञानिक आकार देने वाले श्री गिजूभाई ही थे। उन्होंने इस साहित्य को तीन, भागों में विभक्त किया–(१) शिशु साहित्य, (२) बाल-साहित्य और (३) किशोर साहित्य। इस साहित्य का विभाजन बच्चों की उम्रों के अनुसार दिया गया था और उनके ज्ञान की सीमा को ध्यान में रख कर ही इन पुस्तकों की वाक्य–योजना और शब्द–संग्रह भी रक्खे गये थे। बाल–शिक्षण शास्त्र और कला के क्षेत्र में श्री नृसिंह प्रसाद भट्ट और श्री गिजूभाई के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके उपरान्त कुमारावस्था के शिक्षण में श्री रविशंकर रावल ने अपना महत्वपूर्ण योग दिया है इन सब दृष्टियों से बाल–साहित्य के क्षेत्र में हम गुजराती से बहुत कुछ ले सकते हैं।

गुजराती साहित्य सृजन के नवीन माध्यमों को अपनाने में भी पीछे नहीं रहा। श्री पृथु शुक्ल तथा विष्णु प्रसाद त्रिवेदी ने गद्यगीतों के रूप में श्री जनार्दन पाठक और श्री व्योमेश चन्द्र ने संस्मरणों के रूप में तथा श्रीमती लीलावती मुन्शी ने 'रेखाचित्र' 'पत्र' और 'डायरी' के माध्यम से अपनी अपनी चेतना के फूल, गुर्जरी देवी के चरणों में चढ़ाये। उन फूलों का सुवास हम हिन्दी में भी ले सकते हैं।

विदर्भ की लोक संस्कृति और लोक—साहित्य

शिव चन्द्र नागर

लोगों द्वारा, लोगों के लिए, लोगों के सुख दुख, मिलन विछोह का उल्लास और दर्द उत्सव एवं त्योहारों का सामूहिक आनंद, आशा-आकांक्षायें, सोच और कल्पनायें गीत, नृत्य एवं अभिनय इत्यादि कलाओं के माध्यम से बांटने का ही नाम है- लोक संस्कृति यह लोक-जीवन की सहज अभिव्यक्ति है– जो वैदिक काल से परंपरा का आँचल थामे लोगों की जबान पर तैरती हुई शताब्दियों की दूरी लाँघ कर आज भी वर्तमान के द्वार पर दस्तक दे रही है.

रामायण काल में खेतों में काम करने वाली स्त्रियों द्वारा महाराज रघु की प्रशंसा में गीत गाये जाते थे और आज राम एव रामराज्य की प्रशंसा में गाये जाते हैं

विदर्भ की लोक-संस्कृति सदियों पुरानी है. अत्यन्त पुरातनकाल से विदर्भ रसिकता, गुणग्राहकता एवं सौंदर्य-परीक्षा आदि गुणों का केन्द्र रहा है. वैदिक साहित्य में "विदर्भी कौंडिण्य" का उल्लेख मिलता है. महाभारत तथा पुराणों में विदर्भ के अनेक राजाओं की चर्चा है तथा संस्कृत के साहित्यकारों ने विदर्भ की राजकन्यायें– कौशिकी, लोपामुद्रा, दमयंती, केशिनी, इन्दुमती, रुक्मिणी एवं मालविका के रुप और गुणों का सुन्दर चित्रण किया है विदर्भ के कवियों द्वारा प्रतिपादित 'वैंदर्भी रीति" आज समूचे भारत वर्ष में काव्य शास्त्रीय मान्यता प्राप्त रीति है । ९ वीं सदी के संस्कृत कवि राजशेखर ने विदर्भ प्रदेश को "विद्या का मातृगृह" कहा है.

लोक-संस्कृति की धारा लोक भाषा के बीच से बहती है. जब विदर्भ में उच्च कोटि का संस्कृत साहित्य लिखा जा रहा था, तभी लोक-भाषा के रुप में महाराष्ट्री प्राकृत पनप रही थी "गाथा सप्तशती" की रचना इसी लोक भाषा में हुई है इसी क्रम में जब महाराष्ट्री-प्राकृत साहित्य का निकष बन गई तो लोक-मानस की अभिव्यक्ति अपभ्रंश में होने लगी और अपभ्रंश के बाद

पैशाची में. इसी पैशाची भाषा के अवशेष आज विदर्भ के उत्तर भाग में रहने वाले गोंड-कोरकू आदिवासियों की भाषा में विद्यमान हैं.

विदर्भ आज महाराष्ट्र में समाविष्ट जरूर हैं पर उसकी लोक संस्कृति पृथक है रहन सहन, भाषा, बोली. उच्चारण, वेशभूषा, खान-पान, आदर-सत्कार एवं दैनंदिन व्यवहार इन सभी बातों में विदर्भ की लोक संस्कृति अपना अलग एव विशिष्ट स्थान रखती है. महानुभाव पंथ के संस्थापक चक्रधर स्वामी ने "लीला-चरित्र" की लीलाओं में विदर्भ तथा विदर्भ वासियों का उल्लेख करते हुए विदर्भ को व्यापार-धंदे का उत्तम केन्द्र तथा विदर्भ वासियों को अत्यन्त उदार सरल स्वभाव वाला बताया है.

जिस प्रकार भारतीय संस्कृति का मूलाधार विविधता में एकता है उसी प्रकार विविधताओं से निर्मित विशिष्टता का नाम है विदर्भ की लोक-संस्कृति विदर्भ प्रदेश की राजभाषा मराठी है पर समूचे प्रदेश में विभिन्न समाज जाति और समुदाय के लोग नागपुरी, वन्हाडी, गोवारी, हलवा, कोसारी, कोहली, रघवी, मरारी, पोवारी, मखयारी, बंजारी राज-गोंडी माडिया गोंडी कोलामी व कोरकू बोलियों में अपने मनो-भावो का विनिमय करते है.

विदर्भ की लोक-संस्कृति इस प्रदेश की सहज उर्वरा काली मिट्टी से जुड़े हुए लोगों की संस्कृति है. काली मिट्टी में से पैदा होने वाली चाँदी के फूलों जैसी कपास ने इसे समृद्ध किया है संभवतः इसी समृद्धि के कारण" वन्हाड" अर्थात वन्हाड में लकड़ी काटने की कुल्हाड़ी भी सोने की होती थी, यह उक्ति प्रचलित रही है इसी सोने के प्रदेश में एक श्रमजीवी, शालीन एवं मर्यादा-सम्पन्न लोक-संस्कृति का उदय हुआ.

विदर्भ की नारी का आँचल कभी भी उसके सिर पर से नहीं ढला. वह सदैव श्रम के संसार में पुरुष के साथ कदम से कदम मिलाकर चलती रही. सूरज निकलने से पहले यहां के घरों में आज भी चक्की पीसने के साथ-साथ विदर्भ की नारी को मधुर स्वरों में "ओवी" गाते हुए सुना जा सकता है इस प्रकार संगीत की मधुर लय के साथ चक्की पीसने वाली स्त्री के श्रम का परिहार तो होता ही है साथ ही काम करने के आनन्द की अनुभूति भी होती है।

"जात्यावर बसावं तंवर जात्याशी बोलावं" अर्थात जब तक चक्की पीस रहे हो तब तक चक्की से बातें करते रहना चाहिये.

विदर्भ की काली मिट्टी जब वर्षा के आगमन के उपरांत गीली होकर महकने लगती है तो खेतो की "पेरणी" यानी बुआई के काम में विदर्भ की स्त्रियाँ पुरषों के साथ बराबरी से हाथ बटाती है. उनके मुख से सहज ही गीत फूट पड़ते है—

"कालया मातीत मातीत तिफन चालते,
ओटी बाँधून तान्हल्याला पार्वती उनारते".

कितना सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है लोकगीतकार ने, कि

"जब काली मिट्टी में हल चलता है तो उसके पीछे-पीछे विदर्भ की स्त्री अपने शिशु को पीठ पर बाँध कर बीज बोती चलती है."

विदर्भ की इस कृषि-प्रधान लोक-संस्कृति में गाय-बैलों का महत्व भी कुछ कम नहीं. अत: विदर्भ में कुछ त्यौहार इन मूक पशुओं के प्रति कृतज्ञता—ज्ञापन के उत्सवों के रुप में मनाये जाते हैं.

दिवाली और दिवाली के कुछ दिन पूर्व "गहूला बारस" के दिन गाय-बछड़ों को उत्तम चारा और अच्छा भोजन देते हैं. 'गहुला-बारस' के दिन पूरा कृषक परिवार गेहूं तथा दाल का सेवन नहीं करता.

खेती के मुख्य आधार तो बैल ही है. अत: "पोला" के दिन बैलों को नहला धुला कर सजाया जाता है. घर की सौभाग्यवती स्त्रियां उनकी आरती उतारती है. उन्हें ज्वारी के दाने और भरपुर भोजन खाने को देती है उनके पांव पड़ती हैं.

"पोला" के दूसरे दिन विशेष रुप से नागपुर क्षेत्र में "मारवत" निकाली जाती है. इसका विशाल रुप आज भी नागपुर में देखने को मिलता है "मारवत" बुराई का प्रतीक है. समाज में फैली हुई बुराईयां नष्ट होकर अच्छाइयों का प्रसार हो यह इस उत्सव के पीछे की भूमिका है.

विदर्भ की लोक संस्कृति में भाई-बहिन के पवित्र स्नेह बंधन को जितना गौरवान्वित किया गया है उतना अन्यत्र नहीं. त्यौहारों में त्यौहार अर्थात "भाऊ-बीज". विदर्भ में अखाड़ी के त्यौहार का भी विशेष महत्व है.

'गुडी पाडवा" के दिन हर घर में सबसे ऊँचे स्थान पर 'गुडी' की स्थापना कर विदर्भवासी नये नये वर्ष का स्वागत करते हैं.

इन त्यौहारों के अतिरिक्त विदर्भ में संक्राँत, नाग दिवाली, नाग-पंचमी, दसहरा, होली, काजलती व महालक्ष्मी के त्यौहार भी अत्यन्त उत्साह से मनाये जाते हैं

विदर्भ की लोक-संस्कृति में लोक-नृत्यों का विशेष विकास नहीं हो पाया. लावणी की लयकारी एवं घुंघरुओं की आवाज ने जितना पश्चिमी महाराष्ट्र और मराठवाड़ा के जन-जीवन भो प्रभावित किया उतना विदर्भ के लोक-जीवन को नहीं विदर्भ में सर्वाधिक प्रचलित लोक-नृत्य प्रकार "दडार" के नाम से जाना जाता है. अमरावती जिले में इसे "गवलण" या "गण गवलण", कहते हैं. छोटे-छोटे डंडे हाथों में लेकर पुरुष ही हूब हू ग्वालिनों का वेष धारण कर नाचते हैं. यह वास्तव में कृष्ण की रासलीला का वन्हाडी रुप है. बुलडाणा जिले में इस नृत्य को "गंडार" तथा चन्द्रपुर जिले में इसे "गम्मत" कहते हैं. चन्द्रपुर के गोंड, गोवारी, कोलाम, परधान आदि आदिवासी जमातो में यह लोक नृत्य अधिक लोकप्रिय है.

विदर्भ के वन-प्रदेशों में रहने वाले आदिवासियों के जीवन का नृत्य और संगीत एक अविभाज्य अंग है गढ़ चिरोली के मारडिया चंद्रपुर के गोंड, मेलघाट के कोरकू यवतमाल के कोलाम तथा विदर्भ के अनेक भागो में बसे हुए "बंजारे" मदिरा के नशे में धुत्त होकर अपनी-अपनी विशिष्ट शैली में नाचते गाते हैं.

लोक साहित्य में लोक-जीवन एवं लोक-संस्कृति का प्रतिबिंब ही तो भरता है. अतः विदर्भ का लोक-साहित्य भी विदर्भ की लोक-संस्कृति की भांति ही विविध तथा विपुल है.

जो साहित्य किसने लिखा इसका पता नहीं, जो मौखिक परम्परा के कारण जीवित रहा. जिसको जन सामान्य ने अपनी स्मृति में सहेज कर रक्खा एक ने सुना दूसरे को सुनाया. वास्तव में यही तो है लोक-साहित्य का इतिहास. इस हवा में तैरते हुए लोक-वाङ्. मय को जिसने लिपिबद्ध कर लिया, मानक साहित्य भी, उसका ऋणी होना चाहिये.. उदाहरण के लिये विदर्भ के लोक सेवी

संत माडगेबाबा ने अपनी सहजवाणी द्वारा जो मुक्त लोक-साहित्य लोगों को दिया वह चाहे लिखित रुप में उपलब्ध न हो पर वह विदर्भ का अमर लोकवाङ् मय अवश्य है. वैसे ही संत तुकड़ो जी महाराज ने खंजरी की थाप पर प्रस्तुत भजनों द्वारा तथा ग्राम-गीता इत्यादि ग्रन्थो के माध्यम से जो लोक शिक्षण एवं लोक-प्रबोधन का कार्य किया उससे भी विदर्भ का लोक-साहित्य निश्चित रुप से समृद्ध हुआ है

जैसे "पोवाडों" में पश्चिमी महाराष्ट्र के राजा-महाराजाओं, सरदार एवं योद्धाओं की शौर्य-गाथायें सुरक्षित है इसी प्रकार सामान्यतः समूचे विदर्भ में और विशेषतः नागपुर और अमरावती जिलों में "तूमड़ी वालों के गीतों में" अनेक ऐतिहासिक आख्यान सुरक्षित है ये लोग अपढ़ होते हुए भी अपनी आख्यान शैली में अपढ़ जनता को इतिहास सुनाया करते. तूंबड़ी बजाकर गीत हुए गांव-गांव फिरने वाले ये लोक-गायक अब लुप्तप्राय हो गये हैं.

लोगो के स्मृति-पटल पर बिखरे हुए लोक-वाङ्. मय को संकलित करने का काम विदर्भ में जिन महानुभावों ने किया उनमें राजाराम शास्त्री भागवत का नाम सर्वप्रथम लिया जाना चाहिए. इन्होंने १९७७ में "गोंडी भाषा व गीते" नामक पुस्तक में गोंड समाज में प्रचलित गीतों का संकलन प्रस्तुत किया. अमरावती के बालकृष्ण संताराम गडकरी को वन्हाडी बोली में सर्वाधिक गद्य लिखने का श्रेय प्राप्त हैं इन्होंने वन्हाडी बोली में १८ उपन्यास लिखे. १९४० में यवतमाल के कवि पांडुरंग श्रावण गोरे की पुस्तक 'वन्हाडी लोकगीते" प्रकाशित हुई महात्मा गाँधी के सहकारी काका कालेलकर तथा वामनराव चोरघड़े पुस्तक "साहित्याचे मूलधन" नागपुर से १९३७ में तथा वि. वा. जोशी की पुस्तक "लोककथा व लोकगीते" चांदा से १९३६ में पहले ही प्रकाशित हो चुकी थी. वन्हाडी लोक-गीतों के संकलन की दिशा में अमरावती के श्री राम अत्तरदे का कार्य भी उल्लेखनीय है. इसके उपरान्त १९६४ में प्रकाशित कु० विमल चोरघडे की पुस्तक "नागपुर विभागातील लोकगीतांचे संगीत" लोक-गीतों के संगीत सौंदर्य को उद्घाटित करने वाली एक उत्कृष्ट कृति है. १९६४ में ना. रा. शेडे का ग्रन्थ "लोक साहित्य संपदा" १९६६ में डा० भाऊ मांडव-कर का शोध-प्रबंध "कोलाम" इन्ही की १९६४ में प्रकाशित "वन्हाडी लोक

कथा'' राम काले का ''सासुरवास'' और शंकरराव सुरडकर की ''दगडातील पाझर'' वऱ्हाडीं लोक गीतों पर उल्लेखनीय कृतियाँ हैं.

इनके अतिरिक्त विदर्भ के लोक-साहित्य को जिन्होंने अपने योगदान से समृद्ध किया है उनमें ना. ना. हुड, य. खु. देशपाँडे, उद्धव शेलके, बाजीराव पाहिल, गंगाधर पानतावणे, संभाजी होकम सिंधु मांडवकर, व्यंकटेश अत्राम, सुभाष खंडारे, आशा थोरात, आनन्दराव जोशीं, शांताबाई माडखोलकर, पुंडलिक डोईजड़, अनुसूया सपकाल, प्रमिला शाह, रोहिणी जोशी, शैलजा देशपाँडे, मालती वाकोडे, सरलाबाई गायकवाड, भगवत ठाकरे, जया तिड़के, पं. ख. नागपुरे, कमल सुरडकर, तु. मो. भटकर, प्रतिभा इंगोले, विठ्ठल वाघ, वाघ, मनोहर तल्हार, मीमा ठाकरे तथा मिर्जा बेग के नाम उल्लेखनीय है.

—※—

हजारी प्रसाद द्विवेदी की मौलिक दृष्टि

—शिवचन्द्र नागर, अमरावती

कोई भी साहित्य साधक जब किसी विशिष्ठ साहित्य-विधा के विकास में अपना महत्वपूर्ण एवं मौलिक योगदान देता है तभी हम उसे साहित्य के प्रवर्तक का गौरव प्रदान करते हैं। हिन्दी साहित्य के प्रवर्तक के रूप में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इस गौरव के विशेष अधिकारी हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य के जिस क्षेत्र में भी प्रवेश किया उसी को उन्होंने अपने गहन अध्ययन से अर्जित ज्ञान एवं सहज प्रतिभा के स्पर्श से नये क्षितिजों को आलोकित किया ओर नये आयाम स्थापित किये।

द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में इतिहासकार के रूप में प्रवेश किया। इस क्षेत्र में उनका योग-दान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास का अन्वेषण और निरूपण जिस ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मानवतावादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है वह सर्वथा मौलिक है। उनकी मान्यता थी कि 'सामाजिक विकास से सांस्कृतिक विकास जुड़ा है और सांस्कृतिक विकास से साहित्य का विकास'। साहित्य के इतिहास को व्यापक सांस्कृतिक इतिहास के अंग के रुप में देखने वाला यह व्यापक मानववादी दृष्टिकोण साहित्य-इतिहास-लेखन के क्षेत्र में द्विवेदी जी की नई अवधारणा है। वे मनुष्य को ही साहित्य का लक्ष्य मानते हैं। वे अपनी कृति 'अशोक के फूल' के एक निबन्ध 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' में एक स्थान पर कहते हैं कि 'साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम सारे बाह्य जगत को असुन्दर छोड़कर सोन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। निरन्न, निर्वसन जनता के बीच खड़े होकर आप परियों के सौंदर्य-लोक की कल्पना नहीं कर सकते।'

द्विवेदी जी ने अपनी कृति 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में व्यापक मानवतावादी भूमिका प्रस्तुत की है। वे मनुष्य को ही साहित्य का केन्द्र-बिन्दु मानते हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्यता के मर्म की खोज ही साहित्य का चरम लक्ष्य है।

अतः साहित्य का इतिहास मानववता के संघर्ष और विकास की उपेक्षा करके नहीं लिखा जा सकता। इतना ही नहीं वे भाषा को भी सामाजिक सम्बन्धों का प्रतीक मानते हैं। वे अपनी रचना 'विचार और वितर्क में एक स्थान पर लिखते हैं कि 'शब्द हमारी सामाजिक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रत्येक शब्द किसी अर्थ का प्रतिनिधि होता है।' वे साहित्य को अपने युग की सम्पूर्ण चेतना और विचार-मंथन की एक सुन्दर, कलात्मक एवं रसात्मक अभिव्यक्ति मानते हैं।

साहित्येतिहास-लेखन की दृष्टि से इनकी दूसरी महत्वपूर्ण कृति 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' है। इस पुस्तक में इन्होंने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के काल-विभाजन से अपनी मत-भिन्नता प्रतिपादित करते हुए विवादास्पद आदि काल की अस्पष्ट सीमाओं को स्पष्ट किया है। आचार्य शुक्ल जी की मान्यता का खण्डन करते हुए वे लिखते हैं कि 'वस्तुतः किसी काल-प्रवृत्ति का निर्णय ग्रन्थों की संख्या द्वारा निर्णीत नहीं होता बल्कि उस काल की मुख्य प्रेरणादायक वस्तु के आधार पर ही हो सकता है। द्विवेदी जी ने इस ग्रन्थ में आदिकाल के दो ऐतिहासिक चरित-काव्यों—'पृथ्वीराज रासो' एवम् 'कीर्तिलता' का तर्क सूक्ष्म साहित्यिक मूल्यांकन प्रस्तुत करते हुए, आचार्य शुक्ल जी द्वारा उपेक्षित सिद्धों नाथों और जैनों की रचनाओं को भी महत्वपूर्ण माना है। इस सन्दर्भ में वे लिखते हैं कि 'इस अंधकार-युग को प्रकाशित करने योग्य जो भी चिनगारी मिल जाये उसे सावधानी से जिलाये रखना कर्तव्य है।' द्विवेदी जी ने इसी ग्रन्थ में मध्यकालीन बोध की मौलिक मीमांसा भी प्रस्तुत की है।

साहित्य-समीक्षक के रूप में द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक 'सूर-साहित्य' और 'कबीर' में भक्तिकाल के इन दो कवियों की कविता का जो नया मूल्यांकन प्रस्तुत किया है वह भी हिन्दी साहित्य को उनकी अनमोल देन है। आचार्य शुक्ल जी ने कबीर को एक निर्गुण योग-मार्गी के रूप में ही देखा भक्त के रूप में नहीं जबकि द्विवेदी जी ने कबीर को समाज सुधारक, योगी, भक्त एवं राष्ट्रीय एकता के मूल उद्गाता का गौरव प्रदान कर सम्पूर्ण सन्त-साहित्य के पुनर्मूल्यांकन का मार्ग प्रशस्त किया। द्विवेदी जी ने सूर की कविता के मूल्यांकन का भी नया दृष्टिकोण दिया है।

उपन्यासकार के रूप में भी द्विवेदी जी का योगदान मौलिक एवं उल्लेखनीय है। इनका सर्वाधिक चर्चित उपन्यास 'बाण भट्ट की आत्म कथा' है। वास्तव में यह आत्मकथा नहीं है। आत्मकाथत्मक शैली में लिखा हुआ उपन्यास है। इस उपन्यास में लेखक ने हर्षकालीन युग की सामाजिक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पृष्ठ भूमि पर एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व रूपायित करने का प्रयत्न किया। परन्तु इसमें निरूपित कथा-चित्र ऐतिहासिक प्रामाणिकता की कसौटी पर सत्यापित नहीं किये जा सकते। इन्होंने कल्पना के आधार पर उस युग के ऐतिहासिक वातावरण को एक नयी अर्थवत्ता प्रदान की है। कल्पना और इतिहास का इतना सुन्दर समन्वय कदाचित ही कहीं अन्यत्र देखने को मिले।

आत्मकथात्मक शैली में ही लिखा हुआ 'चारूचन्द्र लेख' इनका दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास है। इतिहास और कल्पना के धागों से बुना हुआ इस उपन्यास का कथानक 'कुतूहल, विस्मय रोमांस और रहस्य भावनाओं से परिपूर्ण तो है पर लेखक के सभी कुछ कह डालने के मोह ने उसे कहीं-कहीं असंतुलित एवं शिथिल बना दिया है। इन दोनों ऐतिहासिक उपन्यासों के माध्यम से द्विवेदी जी ने अपने इतिहास-बोध की छाया में इतिहास पुनर्रचना का साहित्यिक प्रयास किया है और उसमें उन्हें सफलता भी मिली है।

इनका तीसरा उपन्यास है 'पुनर्नवा'। इसमें लोकापवादों के कारण समाज से तथा स्वयं से पलायन करने वाले दिग्भ्रमित चरित्रों की कथा है। पर एक दिन में ही चरित्र न केवल अपने को बल्कि दूसरों के जीवन को भी आलोकित कर देते हैं।

'अनाम दास का पोथा' इनका चौथा उपन्यास है। इस उपन्यास में पुराण कालीन समाज, राजनीति, संस्कृति और दर्शन रूपायित हुए हैं। अतीत की पृष्ठ भूमि पर वर्तमान की विसंगत्रियों का चित्रण इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है।

हिन्दी साहित्य के एक सशक्त निबन्धकार के रूप में द्विवेदी जी का योगदान अप्रतिम है। वे निबन्ध को व्यक्ति के स्वतंत्र चिन्तन की उपज मानते हैं। यह व्यक्ति-व्यंजकता ही निबन्ध-विद्या के विकास में इनकी अनुपम देन है। 'अशोक के फूल', 'विचार और वितर्क', 'कल्पलता कुटज', आलोक पर्व', 'विचार प्रवहा'. तथा 'मध्यकालीन धर्म साधना' आदि निबन्ध-संग्रहों में इनके भाषा,

साहित्य, संस्कृति, इतिहास एवं समाज प्रबोधन सम्बन्धी निबन्ध संग्रहित हैं। इनके निबन्धों में सम-सामयिकता है पर संदर्भों की बहुलता पाठक के लिये कहीं-कहीं सहज-संप्रेषण में गत्यावरोध का संकट उत्पन्न कर देती है। इनके शोधपरक निबन्धों में इनके गहन अध्ययन एवं प्रचुर पांडित्य के दर्शन होते हैं। कुछ हिन्दी समीक्षकों के मतानुसार द्विवेदी जी 'इस काल के या सम्पूर्ण आधुनिक काल के निबन्धकार हैं।

पाँडित्य के धनी तथा सहज प्रतिभा के अगाध सागर–हिन्दी साहित्य के प्रवर्तक–आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का विराट व्यक्तित्व एवं कृतित्व इस अल्प सी सीमा में निरूपित नहीं किया जा सकता अतः पं० भोलानाथ तिवारी के शब्द दोहराकर मैं अपनी बात समाप्त कर दूँगा। तिवारी जी लिखते है कि-

'द्विवेदी जी के निबन्ध कहते हैं कि वे मूलतः निबन्धकार हैं। उनके उपन्यास कहते हैं कि वे मूलतः उपन्यासकार हैं। उनकी हिन्दी साहित्य की भूमिका' और 'कालीदास की लालित्य-योजना' जैसे ग्रन्थ कहते हैं कि वे इतिहासकार और आलोचक हैं और उन्होंने कवितायें यद्यपि बहुत कम लिखी किन्तु जो भी लिखी हैं उनसे दृढ़ विश्वास हो जाता है कि वे मूलतः कवि हैं। वस्तुतः उनके लेखक का व्यक्तित्व इन सभी का समन्वित रूप है, और इसीलिये यह कहना कठिन है कि वे क्या अधिक हैं और क्या कम।'

—*—

साहित्यिक रेडियो वार्ताएं